मेरा जीवन-विकास

अ. वा. सहस्रबुद्धे

अ. भा. सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

मेरा जीवन-विकास

प्रकाशक की ओर से
सस्नेह भेंट

लेखक

अनंत वासुदेव सहस्रबुद्धे

अनुवादक

तिo नo आत्रेय

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
रा ज घा ट, का शी

दो शब्द

श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे भारत के उन इने-गिने मूक तपस्वियों में हैं, जिन्होंने सेवा के लिए ही अपना जीवन अर्पित कर रखा है। हाल में आपने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे किये। उस अवसर पर आपकी यह आत्मकथा 'माझी घडण' नाम से मराठी में प्रकाशित की गयी।

इसे शब्दबद्ध करने का श्रेय सौ० कुसुम पटवर्धन को है, जो अनेकविध व्यस्तताओं के बीच भी समय निकालकर इस काम के लिए कोरापुट में अण्णा-साहब के पास जाकर रहीं।

इस आत्मकथा में अण्णा के जीवन का निचोड़ है। इसकी महत्ता किसीसे छिपी नहीं है। पू० बाबा भी यह मानते हैं कि अण्णा की यह रोचक जीवन-झाँकी युवकों के लिए निश्चय ही उद्बोधक, मार्गदर्शक और स्फूर्तिप्रद सिद्ध होगी।

राधाकृष्ण बजाज

अनुक्रम
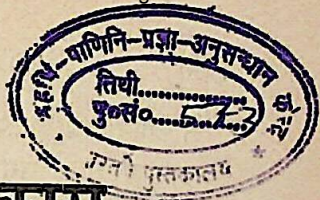
मेरा जीवन-विकास

विद्यार्थी-जीवन : १ :

७ अक्तूबर १८९७, आश्विन शुक्ला द्वादशी १ मेरा जन्म-दिन है। पूना के शनिवार पेठ में गुपचुप का वाडा है। मेरे दादा-परदादा वहाँ रहते थे। मेरी माता गोवित्रीकर-परिवार की थीं। उस घर की अटारी सड़क की एक ओर है। बचपन की कुछ धुँधली-सी यही एकमात्र स्मृति रह गयी है।

मेरे पिताजी विदर्भ के अमरावती जिले में प्राथमिक पाठशाला के शिक्षक थे। दर्यापुर, एलिचपुर, करंजगाँव आदि कई जगह तबादला होता रहता था। 'तबादला' कहते ही सामान-सरंजाम का समेटना-बाँधना, उसमें भी हमारी चुलबुल और धाँधली तथा बैलगाड़ी का सफर आदि अनेक घटनाओं की याद हो आती है। बड़ों को, खासकर माँ को इस तरह बार-बार गृहस्थी बदलते रहने में कष्ट ही होता होगा, लेकिन मुझे तो उत्सुकतापूर्वक बैलगाड़ी की बाट जोहने और प्रसन्नतापूर्वक प्रवास करने का स्मरण है।

मेरा प्राथमिक शिक्षण इसी कारण कई जगह चला। खयाल है कि कहीं एक जगह पूरे सालभर भी शायद ही रहा होऊँ। एलिचपुर के पास करंजगाँव में सन् १९०९ के दिसम्बर में मैं मराठी छठी कक्षा में उत्तीर्ण हुआ। १९१० में

मैं अपने दादा के पास रहकर आगे का शिक्षण लेने के लिए पूना आया। उस समय हम सात भाई थे। मुझसे बड़ी एक बहन थी। मैं बड़ा लड़का था। हम सबके शिक्षण के निमित्त माँ भी पूना आकर रहने लगी। पिताजी अपनी नौकरी के कारण विदर्भ में ही अकेले रहने लगे। मेरा स्कूली जीवन पूना में शुरू हुआ।

मैं न्यू इंग्लिश स्कूल में भर्ती हुआ। उन दिनों हमारा वर्ग होलकर-वाडे में लगता था। श्री राम गणेश गडकरी उस समय मेरे मराठी शिक्षक थे। दूसरे शिक्षक श्री वझे थे। श्री मोडक, आपटे और कुम्भारेजी का भी मुझे अच्छा स्मरण है। अंग्रेजी छठे दर्जे के शिक्षक श्री म० माटे थे। ऊपर के वर्ग नाना-वाडा में लगा करते थे।

स्कूली जीवन-काल में पढ़ाई-लिखाई की तरफ मेरा विशेष ध्यान नहीं था। प्रत्येक वर्ग में जैसे-तैसे पास होने से अधिक और कुछ सधा नहीं। मेरी अधिक रुचि खेल-कूद और कसरत की ओर थी। उसमें भी दौड़ लगाने का शौक बहुत ज्यादा था। दौड़ने की कसरत मैंने बहुत की। लेकिन क्या पढ़ाई; क्या खेल-कूद और क्या दौड़ लगाने में, कभी भी पहली श्रेणी में आने की इच्छा नहीं हुई।

१९१० से १९१३ तक के चार साल शनिवार पेठ के सहस्रबुद्धे के वाडे में ही बीते। उस समय हमारे हिस्से का घर हमारे ही भाई-बन्धुओं में बिका। १९१२ में मेरे दादा का देहांत हुआ। तभी से एक प्रकार मैं घर से अलग होने लगा।

तब किराये पर रहने और फिर कई जगह घर बदलते रहने का सिलसिला शुरू हुआ। उस समय मेरा जीवन मनमाना चलता था। घर में दादा मर गये थे। पिताजी नौकरी के कारण दूर थे। माताजी हम भाइयों को सँभालने और गरीबी का संसार चलाने में फँसी थीं। हम पर निगाह रखने या हमें सही रास्ते पर मोड़ने की उन्हें फुरसत ही नहीं थी। वाड़े में रहनेवाले बाकी बच्चों का भी यही हाल था। जितने भी बड़े लोग थे, चूँकि सब भाई-भाई थे, उनमें आपस में बहुत ही वैमनस्य रहा करता था। फिर बच्चों को कौन बुलाये, कौन देखे और कौन उन्हें सही मोड दे? इसकी आशा भी व्यर्थ थी। लेकिन उनके झगड़े-फसाद का संस्कार हमारे मन पर अवश्य होता रहा।

हम बच्चे क्या करते थे, इसकी किसीको परवाह नहीं थी। 'एक आना माला' ऐसी निकृष्ट दर्जे की जासूसी पुस्तकें और चटकीले उपन्यास पढ़ना और पढ़कर उनके चुने हुए गुण अपनाकर खुद उन पर अमल करने का कार्यक्रम सफलता के साथ सम्पन्न होता था। स्कूल के शिक्षकों का भी ध्यान हमारी तरफ विशेष नहीं रहता था। आखिरी बेंच पर बैठनेवाले लडके थे हम। स्कूल में भी पढ़ाई से बचकर ऐसी किताबें पढ़ने के लिए द्वार मुक्त था।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं कभी फेल नहीं हुआ, यही मेरे लिए बड़ी बात थी। मैं और मेरी मित्र-मण्डली में से एक और (मेरा चचेरा भाई), दो ही कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर
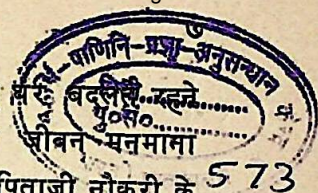
पाये। बाकी सब पढ़ाई में पीछे रह गये। इसका एकमात्र कारण गरीबी ही नहीं, लड़कों की ओर किया गया दुर्लक्ष्य भी मुख्य कारण था।

वाडे का वातावरण दूषित था। हमारे वाडे के एक गृहस्थ अपनी स्त्री को खूब पीटते थे। लकड़ी से मारते और घर से निकाल भी देते थे। मुझे अब भी उस बहन की याद है। वह अनपढ़ थी, परन्तु उसने लड़कों से बड़ी उत्सुकता के साथ अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हमेशा पोथी-पुराण पढ़ती थी। आगे चलकर वह घरों और मंदिरों में स्त्रियों को एकत्र कर भजन-कीर्तन भी किया करती थी। उसकी बोलने की शैली बहुत ही सुन्दर और प्रवाहपूर्ण थी। लेकिन घर में पति का ऐसा व्यवहार था। मुझे उस बहन के प्रति हमदर्दी और आदर था। उसे पीटनेवाले उस पति के और उस बहन के विरुद्ध रहनेवाले सभी बड़े लोगों के प्रति नफरत होती थी। घर में मेरा कोई मार्गदर्शक नहीं था। ऐसे 'बड़ों' के प्रति हमारी क्या भावना रहती?

स्कूल में भी मैं ऐसे लड़कों के ही दल में था। मुझे याद है, एक खासा अमीर घराने का लड़का हमारे दल में था। उसे घर से प्रतिमास २०-२५ रुपये तक जेब-खर्च के मिलते थे। लड़कों को लेकर वह कई बार होटलों में जाया करता। लेकिन इस समय मोह की अपेक्षा मेरा अहंकार ही श्रेष्ठ ठहरा। मुझे इसका भान था कि वह हम पर खर्च करेगा और हम उस पर ऐसा खर्च करने की स्थिति में नहीं हैं।

मैंने उससे भी यह बात कह दी और होटल आदि के आकर्षण से आग्रहपूर्वक दूर रहा।

पिताजी जब कभी छुट्टी के दिनों में घर आते, तब मेरी इस आवारागर्दी के समाचार उनके कानों तक पहुँचते। लेकिन स्कूल में मेरे नम्बर अच्छे रहते थे। इसलिए वे मुझ पर ज्यादा नाराज नहीं होते थे। शायद उनको ऐसा भी लगता होगा कि सालभर में एक-आध महीने बच्चों के साथ रहना है, तो इतने में क्यों उन पर गुस्सा होऊँ। मेरे पिताजी बहुत ही शांत स्वभाव के थे। वे मैट्रिक पास थे। उन दिनों हाईस्कूलों में भी मैट्रिक पास शिक्षक बहुत कम थे। फिर भी पिताजी का स्वभाव बहुत अभिमानी था। वे अपने अधिकारियों के साथ कभी बहुत झुककर नहीं चलते थे। कभी उनकी खुशामद नहीं की। इसलिए सरकारी नौकरी में वे बहुत प्रगति नहीं कर सके। आखिर तक प्राथमिक पाठशाला के ही मास्टर रहे। विद्यार्थियों को पास करने में भी उन्होंने अमीर अभिभावकों का लिहाज नहीं माना। अपनी इस वृत्ति के कारण उनकी दृष्टि में भी वे प्रिय नहीं रहे।

लेकिन वे स्वभाव से शांत और उत्तम शिक्षक थे। मेरी माँ बहुत सहनशील और शांत थी। पिताजी का वेतन ४० रुपये मासिक था और पेन्शन के समय ५० रुपये। घर में हमेशा कोर-कसर करनी पड़ती। हम छह-सात लोग थे। सबका खाना-पीना, पढ़ना-लिखना! रुपये-पैसे की खींचतान हमेशा की थी। घर में दूध का नाम भी नहीं। हमारे कई धनी बंधुओं के

यहाँ भैंसें थीं। कभी-कभी वहाँ से छाछ आती थी। लेकिन इन सब स्थितियों में भी माताजी ने कभी असंतोष या असमाधान प्रकट किया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं। घर की इस खींच-तान का मंतलब या तकलीफ समझने लायक मेरी उम्र नहीं थी। मेरा मनमाना जीवन चलता था और मैंने कम शरारत नहीं की।

लेकिन उस समय न केवल मेरी, परन्तु समूचे राष्ट्र की ही दृष्टि से एक बहुत बड़ी और मंगलकारी उथल-पुथल हुई। १९१४ के बाद लोकमान्य तिलक का युग शुरू हुआ। उससे पहले भी राजनैतिक जाग्रति लाने में उन्होंने बहुत काम किया था। १९१४ में जेल से रिहा होकर जब वे बाहर आये, मेरा खयाल है, पूना में एक भी सप्ताह ऐसा नहीं बीता होगा, जब कि कहीं-न-कहीं लोकमान्य तिलक का व्याख्यान न हुआ हो। उनके एक भी व्याख्यान में मैं अनुपस्थित नहीं रहा। समूचा विद्यार्थी तथा युवक-वर्ग उस समय भरपूर जोश में था। राजनैतिक मामले समझने और उसकी मिठास चखने की वह उम्र ही थी। पहले से भी राजनैतिक हलचलें चालू थीं। १९०८ में तिलक गिरफ्तार हुए थे। उस समय का मुझे अच्छा स्मरण है। उनके घर की तलाशी हो रही थी। उनके घर के सामने एक ऊँचे मिट्टी के टीले पर हम डेढ़-दो हजार लड़के इकट्ठे थे। उस जमघट का वह कुछ अज्ञात-सा दुःख मेरे अन्दर भी छाया हुआ था। भीड़ बढ़ी। पुलिस हमें हटाने लगी, गड़बड़ी हुई। इन सबसे मुझे इतना

ही बोध हुआ कि अंग्रेजों के खिलाफ कुछ-न-कुछ लड़ाई हो रही है।

लेकिन आज मालूम होता है, उस समय लोकमान्य तिलक ने तरुणों को पागल बना दिया था। उस समय हमारे गुरु और मार्गदर्शक थे श्री हरिभाऊ फाटक और श्री बाबा लिमये। १९१५ में मेरी इन दोनों से पहचान हुई। उस समय विद्यार्थियों के संघटन के सूत्रधार श्री हरिभाऊ थे। सेवा-कार्य की मिठास का परिचय मुझे हरिभाऊ ने ही कराया था। अखबार पढ़ना, प्रत्येक मामले की आमूल चर्चा करना और हरएक विषय की ओर अभ्यासु-वृत्ति से देखना आदि का शिक्षण श्री बाबा लिमयेजी ने मुझे दिया। विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने तक मेरा निर्माण करनेवाले ये दोनों थे। लिमयेजी की प्रेरणा से अभ्यासक्रम के अतिरिक्त अन्य साहित्य का अध्ययन भी अच्छा हुआ। खासकर विवेकानन्द, रामतीर्थ और ऐसे ही कई महानुभावों के आध्यात्मिक विचारों का मैंने उस समय अध्ययन किया। श्री लिमयेजी की विशेषता थी, किसी भी विचारधारा में न बहकर उस विचारधारा का विश्लेषण करना। मेरा बहका हुआ जीवन अब सही दिशा में चलने लगा।

अब मेरी आकांक्षाएँ बढ़ने लगीं। इच्छा हुई कि कॉलेज का शिक्षण पूरा करूँ। पिताजी ने एस० एल० सी० की परीक्षा का फार्म भरने को कहा था। उसके बदले में मैंने मैट्रिक और एस० एल० सी० दोनों के फार्म भरे। इसमें

प्रारंभ के छह महीने तक पिताजी को इसका पता लगने का कारण ही नहीं था। लेकिन छह महीने बाद की रिपोर्ट से उन्हें इसका पता चला। उन्हें थोड़ा गुस्सा भी आया। लेकिन यह कहकर कि मैं दोनों परीक्षाओं में बैठनेवाला हूँ, उन्हें जैसे-तैसे सांत्वना दी। उन्होंने भी आगे विशेष विरोध नहीं किया। प्रायः उन्हें मेरे आगे के उद्देश्य की कल्पना नहीं थी। सरकारी नौकरी में न लगने की धुन मुझ पर सवार हो रही थी। साथ ही दोनों परीक्षाओं में आसानी से पास हो जाऊँगा, यह अहंकार भी था। पिताजी की नहीं मानी। मेरा उद्देश्य सिद्ध होगा, ऐसा भी मुझे लगता था। आखिर मैं दोनों परीक्षाओं में पास हुआ।

लेकिन तब दूसरी मुसीबत आयी। पास हो जाने के बाद सभी नौकरी करने को कहते थे। वास्तव में घर की हालत भी वैसी ही थी। पिताजी अवकाश ग्रहण करनेवाले थे। सभी छोटे भाइयों को पढ़ाना था। लेकिन मेरी आगे पढ़ने की आकांक्षा छूटती नहीं थी। आखिर मई मास में पिताजी आये और इस विषय पर चर्चा शुरू हुई।

मेरा आग्रह देख पिताजी भी सहमत हो गये। उनको दुःख इस बात का था कि मेरा कॉलेज का खर्च वे किसी हालत में नहीं दे सकते थे। परन्तु खर्च की जिम्मेदारी मैंने खुद अपने ऊपर ले ली, तब उन्होंने कहा: "भई, मुझे भी लगता है कि तुम पढ़ो। मुझे यह अपेक्षा बिलकुल नहीं कि तुरंत ही तुम घर की मदद करो।"

इस प्रकार पढ़ने की और खर्च की जिम्मेदारी जब मैंने खुद उठा ली, तो उन्होंने बड़ी खुशी के साथ सम्मति दी और आशीर्वाद दिया।

१९१६ में कॉलेज में मैंने अपना नाम दर्ज करा दिया। कॉलेज में रहते हुए भी श्री हरिभाऊ और बाबा लिमये के साथ संपर्क तो था ही। मेरे एक और मित्र थे नीलकण्ठ फाटक। वे आजकल अमेरिका में हैं। इन तीनों ने मेरी मदद की। पढ़ाई में मेरा नंबर बहुत अच्छा न होने से छात्रवृत्ति मिल जाने की आशा नहीं थी। श्री हरिभाऊजी के प्रयत्न से बेलगाँव के पास के संकेश्वर गाँव के कुलकर्णी नाम के एक लड़के की ट्यूशन मुझे मिली। उसे मैट्रिक की तैयारी आरंभ से करानी थी। उससे प्रतिमास २०) मिलते। दो-ढाई घंटे पढ़ाना पड़ता था। मैंने काफी परिश्रम किया। यह ट्यूशन दो साल तक रही। उस लड़के के साथ मेरा भी अध्ययन सुधरा।

मैंने प्रामाणिकता से खूब परिश्रम किया। वह लड़का पास हुआ। इसी तरह और भी कुछ पैसे मिल जाते थे। कभी कर्ज भी लेना पड़ता था। समूचे कॉलेज-शिक्षण-काल में गरीबी ने पीछा नहीं छोड़ा। कभी कपड़े मैले, तो कभी फटे-पुराने। मुझे इसका विशेष दुःख न था। पहले साल मैंने एक कोट बनवा लिया था। उसीने मुझे चार साल तक काम दिया। आगे चलकर गांधीजी के आंदोलन के बाद ऐसे अनावश्यक कपड़ों की जरूरत ही नहीं रही। किताबें भी दूसरों की। उन्हींसे अध्ययन कर लेता। ट्यूशन और कॉलेज

के कारण खेल-कूद और कसरत बंद पड़ी। ऐसी स्थिति में भी शिक्षण पूर्ण होने तक ५-६ सौ रुपयों का कर्ज हो ही गया।

कॉलेज में मैं रम गया था। श्री आर० डी० रानडेजी के व्याख्यानों पर मुग्ध हो जाता था। प्रो० लिमये (इतिहास), प्रो० वा० गो० काले (अर्थशास्त्र) और प्रो० गुणे (संस्कृत) के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों की याद आज भी ताजी है। उस समय एनी बेसेण्ट पूना आयी थीं। मैंने तब थियोसाफिकल सोसायटी की जानकारी और कुछ साहित्य का अध्ययन किया। खासकर श्री लिमयेजी के कारण मेरा अध्ययन-प्रेम बढ़ता गया।

१९१४ में लड़ाई की आग भड़कने लगी। युद्ध में मदद करने की घोषणा तिलक ने की थी। मैं उससे प्रभावित हुआ। १९१७ के नवम्बर में भारत सुरक्षा-सेना शुरू हुई। मैं उसमें भर्ती हुआ। वानवडी के कैंप में गया। तब मेरे साथ श्री काका-साहब गाडगील, अप्पासाहब पटवर्धन भी थे। विश्वविद्यालय का सत्र आरम्भ होनेवाला था। मुझे वानवडी का कैम्प खूब जँच गया। खाना भी भरपूर, कसरत भी खूब। मेरा वजन ११२ से १३० के ऊपर पहुँच गया था। मैं लौटा, तो मेरी माँ भी क्षणभर के लिए मुझे न पहचान सकी।

बाहर का राजनैतिक वातावरण धीरे-धीरे गरम हो रहा था। मैं बी० ए० में था, तब रौलेट-एक्ट का निषेध शुरू हुआ। उसमें १५-२० दिन मैंने खूब हिस्सा लिया। लेकिन

फिर कॉलेज जाकर परीक्षा में बैठा। उस समय श्री न० चिं० केलकर के पुत्र श्री काशीनाथजी के साथ मेरी अच्छी मित्रता हुई। मैं केलकरजी के यहाँ आने-जाने लगा। राजनीति मुझे अच्छी लगने लगी। अब 'केसरी' के सम्पादक-मंडल में जाने के सपने आने लगे। राजनैतिक भूमिका विस्तृत हो चली। घर का संकुचित जीवन अब समाप्त हो गया था।

इन्हीं दिनों मेरे विचारों और जीवन में परिवर्तन लानेवाली एक घटना हुई। श्री म० माटेजी ने अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन में पाँव रखा। उन्होंने मांग लोगों के मोहल्ले में रात्रि-पाठशाला और साक्षरता का प्रचार शुरू किया। श्री माटेजी खास विद्यार्थियों का वर्ग चलाते थे और उनमें से इस काम के लिए कई लड़के तैयार करते थे। मैंने इस काम को इसलिए शुरू किया कि इससे मुझे १०) मिलते थे। लेकिन मांग-मोहल्ले की स्थिति देखने पर मैंने ये पैसे लेने से इनकार कर दिया। मांग-बस्ती ने मेरे अब तक के जीवन पर जबरदस्त धक्का पहुँचाया। गरीबी मेरे लिए नयी न थी। लेकिन यह जीवन? मांग-स्त्रियाँ दिनभर शहर की जूठन खोजती फिरतीं, उसमें से जो कुछ खाना मिलता, उसे खा लेतीं, युवक लड़के छावनी में बूट पॉलिश करने जाते और शराब की बोतलें तोड़ते फिरते और बड़े लोग श्मशान में खड्डे खोदा करते। यह भी कोई जीवन है?

मेरी सारी शक्ति में उबाल आने लगा था। विचार कुण्ठित हो गये थे। कई पीढ़ियों से यही जीवन उनके भाग्य में

बदा था। यहीं 'श्रीगणेश' और यहीं 'इति' थी। उन्हें ऐसा जीवन बिताने के लिए उत्तरदायी जो समाज है, मैं भी उसीका एक अंग था। मांग-समाज की गरीबी की हद नहीं थी। मानवता कब की मिट गयी थी। उन्हें चूसनेवाले समाज का एक अंग मैं! क्या करूँ, जिससे इस भयानक पाप का आंशिक ही सही, प्रायश्चित्त हो?

अध्ययन और ट्यूशन को छोड़कर बाकी सारा समय उन्हींमें खर्च होता। उनके जीवन से एकरूप होने का मेरा निश्चय हो चुका था। वहाँ मैं बच्चों को स्नान कराता, स्कूल ले जाता। शराब पीने पर सजा देता। दौड़-धूप करके पक्की सड़क बनवायी, नल लगवाया। इतने में वहाँ हैजा शुरू हुआ। समाज जितना गरीब होता है, उतना ही मंत्र-तंत्र और भूत-प्रेत पर उसका जबरदस्त विश्वास होता है। लोग दवा लेते ही न थे। लेकिन मैंने अपनी सारी शक्ति लगायी। एक तरफ भभूती लगाना और ऐसा भी ढोंग रचना, मानो मंत्र-तंत्र का भी मुझे ज्ञान है, दूसरी तरफ, साथ ही साथ डॉ० फाटकजी की दवाएँ भी पिलाना। मैंने ऐसा स्वाँग रचना शुरू किया कि हैजे से एक मृत्यु भी नहीं हुई। दिन में ४-५ घंटे मेरे वहाँ लगते। मेरे अपने जीवन का कुछ विलक्षण ही प्रयोजन दीखने लगा। इस काम में विचित्र आनन्द आने लगा था। किसी 'मांग' लड़की से शादी की जाय, इस प्रकार की ध्येयवादी इच्छा भी मेरे मन में पैदा हो गयी थी। परन्तु यह तो केवल ध्येयवादी लहर थी। आगे चलकर गरीबी

और देहात मेरे जीवन के विषय बने, लेकिन इनका सही आरम्भ तो इस मांग-कॉलनी की गरीबी के अमंगल दृश्य से ही हुआ।

श्री हरिभाऊ फाटक ने एक स्वदेशी संघ शुरू किया था। स्वदेशी व्रत लेने का आरम्भ वहाँ हुआ। अपने अर्थशास्त्रीय सिद्धांतों को प्रत्यक्ष जीवन से जोड़ने का प्रयत्न भी वहीं शुरू हुआ। अर्थशास्त्र और राजनीति को लेकर मैं बी० ए० पास हुआ। लेकिन तीसरी श्रेणी में। थर्ड क्लास बी० ए० को 'केसरी' में कौन पूछता? अब फिर आँखों के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा हुआ। शिक्षण तो हुआ, पर आगे क्या?

कॉलेज की छुट्टियों में एक बार मैं मिलिटरी-अकाउण्ट्स-विभाग में नौकरी करने गया। तब वहाँ कई शिक्षितों की आवश्यकता थी। मुझसे उन्होंने पूछा: "कितने दिन काम करोगे?" मैंने सही जवाब देने की मूर्खता की। कहा: "कॉलेज शुरू होने तक।" परिणामस्वरूप मुझे यह नौकरी मिली नहीं। बी० ए० होने के बाद पहली बार १६२० में मैं बम्बई गया। वहाँ अपने मित्र के कमरे में पड़े रहकर एक महीने तक सोचा-विचारा कि आगे क्या किया जाय? सरकारी नौकरी में तो जाना नहीं, यह निश्चय था ही।

तब मन में एक और भी विचार आता! विवाह और नौकरीवाली साधारण गिरस्ती चलानी हो, तो विदेश में जाकर चलानी चाहिए। जब तक देश स्वतंत्र न हो, तब तक इस देश में इस प्रकार का सुखी जीवन बिताने का हमें अधिकार नहीं है।

श्री हरिभाऊ फाटक मेरे आदर्श थे। अतः उनके ब्रह्मचर्य-व्रत का आकर्षण मुझे था ही। इसलिए मैंने अपने पिताजी से कहा था कि मैं अब शादी करूँगा नहीं और मुझे सरकारी नौकरी भी नहीं चाहिए। आखिर पूना में 'दुनिया' नाम का एक अखबार निकलने लगा और मुझे उसमें नौकरी मिली। लेकिन तीन ही महीने के अन्दर उसका दिवाला निकला और मेरा खयाल है, वहाँ के काम का वेतन भी मुझे कभी नहीं मिला।

● ● ●

गांधीजी के संपर्क में : २ :

आखिर और भी चालीस-पचास रुपये कर्ज करके मैं विंदर्भ में उमरखेड की एक शिक्षण-संस्था में ७० रुपये मासिक पर शिक्षक का काम करने लगा। माताजी और भाइयों को वहीं ले गया। शिक्षक-जीवन आरम्भ हुआ।

मेरे जीवन में अतिशय आनन्द और सुख के ये दिन थे। वहाँ काम बहुत था। मुझे अपनी सारी कल्पनाओं को कार्य-रूप देने के लिए पूर्ण अवसर था। लड़कों को लेकर मैं खेतों में फसल काटने जाता। कपास चुनने जाता। इस श्रम से ढाई सौ रुपया इकट्ठा कर वहाँ एक कुश्ती का अखाड़ा तैयार किया। वहाँ के हरिजन मोहल्ले में रात्रि-शाला शुरू की। पूना की मांग-कॉलनी से बिलकुल उल्टा अनुभव यहाँ मिला। हरिजन बहुत साफ-सुथरे रहते थे। लालटेन, आसन, पट्टी आदि सब कुछ वे लाते। मैंने उनके जीवन में प्रवेश पा लिया। लेकिन वहाँ के ब्राह्मण लोग मुझ पर रुष्ट थे। आखिर समझौता हुआ। हरिजन-बस्ती से लौटने पर कोई-न-कोई पानी गरम करके रात के ११-११॥ बजे मुझे नहलाकर शुद्ध करता और घर में लेता। इस शुद्धीकरण की जिम्मेदारी उन्हीं पर पड़ी। जिस घर में मैं रहता था, वहाँ एक छात्रावास भी खोला। गाँव के बीस-पचीस लड़के वहाँ रहते। दोनों समय

खा-पीकर आते या खाना लेकर आते। मैं उनसे रामदास, तुकाराम आदि का साहित्य-पाठ कराता और श्रम का काम भी काफी करा लेता।

वहाँ एक मठ था। उसकी १-२ लाख की आमदनी थी। मठाधिकारी अच्छे शिक्षित थे। मेरे मन में आया कि यदि मैं यहाँ का मठाधिकारी बनूँ, तो इतने पैसे में कितने ही लड़कों को पढ़ाऊँ, लिखाऊँ। उस दृष्टि से प्रयत्न करने के इरादे से मठ के अधिकारी से दोस्ती भी बढ़ाने लगा। इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा भी मेरे मन में पैदा हुई थी।

लेकिन सौभाग्य था कि इस प्रकार की कोई भी आकांक्षा पूरी होने देने जैसी उस समय की राजनैतिक स्थिति नहीं थी। गांधीजी के अलौकिक नेतृत्व में जोरों के साथ क्रांति के कदम बढ़े जा रहे थे। १९२० के सितम्बर मास में कांग्रेस की सभा हुई। उसमें गांधीजी ने असहयोग की घोषणा की। मेरा भी मन विचलित हुआ।

सभी की दृष्टि में मैं अभी-अभी ठीक रास्ते पर चलने लगा था। पिताजी की गृहस्थी में भी थोड़ी-बहुत मदद पहुँचाने लगा था और शिक्षक-जीवन में मुझे आनन्द आने लगा था। लेकिन इसमें मुझे पूर्णता का अनुभव नहीं होता था। नौकरी छोड़ने की इच्छा हुई। अन्त में नवम्बर में उमरखेड छोड़ना तय किया। मैं आन्दोलन में भाग लेने यहाँ से जानेवाला हूँ—पता नहीं, वहाँ के लोगों को यह कैसे मालूम हो गया। हरिजन-मोहल्ले में खबर पहुँचते ही वहाँ काफी गड़बड़ी मची और वे

सारे लोग आकर मुझे रोकने लगे। रोना-पीटना भी शुरू हुआ। मुझे भी वहाँ के काम के बन्द हो जाने का दुःख हो रहा था। वहाँ बच्चों की पाठशाला की जड़ ठीक जमने लगी थी। साक्षरता के वर्ग में भी उपस्थिति अच्छी रहती थी। मेरी घनिष्ठ आत्मीयता जम गयी थी और उसे तोड़ने में मेरा भी दिल टूटता था। लेकिन गांधीजी की पुकार ज्यादा जोरदार थी। सभी पाश झकझोर देने की सामर्थ्य उसमें थी। आखिर दिसम्बर में नौकरी छोड़कर मैं पूना आ गया।

असहयोग आन्दोलन दिसम्बर के अन्त में शुरू हुआ। जगह-जगह राष्ट्रीय शिक्षण की नींव डाली जाने लगी थी। पूना की राष्ट्रीय शाला में मुझे बुलाया गया। श्री बाबा लिमये ने भी नौकरी छोड़ दी और राष्ट्रीय शाला का काम हाथ में ले लिया था। श्री बालुकाका कानिटकर ने मुझे चिंचवड बुलाया। रौलट-एक्ट के सत्याग्रह के समय उनसे मेरा पहला परिचय हुआ था। 'तिलक-विद्यापीठ' की स्थापना हुई और लड़कों को स्कूल-कॉलेजों से कैसे छुड़ाया जाय, इसकी कोशिश शुरू हुई। उसी समय श्री तात्या देशपाण्डेजी ने कॉलेज छोड़ा और तिलक-विद्यापीठ के वाङ्मय-विशारद बने। मैं, तात्या और बाबा लिमये सब चिंचवड गये। काका कारखानीस और श्री फणसलकर आदि का डेरा वहाँ लगा ही था।

१९२१ की १६ अप्रैल को मुलशीपेट का प्रसिद्ध सत्याग्रह शुरू हुआ। वहाँ टाटा पॉवर कम्पनी का बाँध बन रहा था। ४२ गाँवों की हजारों एकड़ जमीन पानी में चली जानेवाली

थी। बाँध के विरोध में वहाँ के कृषक मावले लोगों का जबरदस्त संघटन खड़ा हुआ। चिंचवड राष्ट्रीय विद्यालय के ३०-३५ छात्र और २-३ शिक्षक जेल गये। मुलशीपेट-सत्याग्रह-सहायता-समिति भी स्थापित हुई। उसके सेक्रेटरी के नाते अकेला मैं ही जेल से बाहर रहा। ऑफिस, हिसाब आदि की सारी रीति का प्राथमिक ज्ञान मुझे वहीं प्राप्त हुआ। सेनापति बापट का मुझे आदेश था कि "आप अन्त तक ऑफिस में ही रहें।"

सत्याग्रह समाप्त हुआ और पुनः विद्यालय चालू हो गये। तब अनेक विचारों को कार्यरूप देने का मेरा तथा मेरे कुछ सहकारियों का काम आरम्भ हुआ। लड़कों में से जाति-भेद समूल नष्ट करना था। श्री नारायण शास्त्री मराठे को बुलाकर हम लोगों ने सभी अब्राह्मण लड़कों का उपनयन-संस्कार कराया। रसोई में सबकी पारी लगायी। जाति का कोई प्रश्न ही नहीं था, लेकिन इन सब कारनामों के कारण हमारी आर्थिक स्थिति डगमगाने लगी। राष्ट्रीय शाला के लिए पूना और महाराष्ट्र के कई लोगों से श्राद्ध-पक्ष के वास्ते चन्दे की काफी रकम आती थी। ऐसे मनीआर्डरों के द्वारा बीस-बाईस हजार रुपये प्रतिवर्ष जमा होते थे। लेकिन जाति-प्रथा पर हमला करने के कारण काफी कशमकश चली और ये सारे मनीआर्डर बन्द हो गये।

लोकमान्य तिलक के सहकारी तथा श्री न० चिं० केलकर पहले मुलशीपेट के सत्याग्रह के अध्वर्यु थे। लेकिन धीरे-धीरे

उनका गांधीजी के साथ मतभेद बढ़ने लगा। विद्यार्थियों का जेल जाना उन्हें पसन्द नहीं था। राजनैतिक पक्ष में भी मतभेद दीखने लगा। अतः केलकरजी की कृपा भी समाप्त हुई। इन सब परिस्थितियों का सामना करते हुए भी हम लोगों ने शाला चलाने का निश्चय किया था। मन में आता था कि बुकर टी० वाशिंग्टन की शाला जैसा स्वावलम्बी विद्यालय चलाया जाय। फसल की कटाई के समय कुलावा में घूम-फिरकर १००-१५० बोरे चावल हम इकट्ठा करते थे। लेकिन उतने से पार नहीं पड़ता था। इस समय गांधीजी हमारी मदद के लिए आये।

मैंने गांधीजी को पहले-पहल पूना में देखा। १९१९ में खादी और ग्रामोद्योगों के बारे में उनका व्याख्यान हुआ था। श्री शिवराम पन्त परांजपे अध्यक्ष थे। मैं स्वयंसेवक बनकर गया था। हम लोग उनके भाषण की धज्जियाँ उड़ाना चाहते थे। श्री परांजपे ने भी इस विचार की विनोदी शैली में खिल्ली उड़ायी। उन्होंने कहा कि "बीड़ी बाँधना भी एक बड़ा ग्रामोद्योग है और उसके आधार पर भारत का भविष्य तय किया जाय।" मैं उस समय सैनिक शिक्षण पाकर नया-नया आया था। सेना के द्वारा सशस्त्र क्रांति करने की साध थी। गांधीजी के व्याख्यान के सम्बन्ध में मैंने भी विशेष खयाल नहीं किया। श्री जमनालाल बजाज और गांधीजी को ऐसे आदमियों की जरूरत थी, जो पूना में उनका काम बढ़ायें। चिंचवड की राष्ट्रीय शाला के लिए तिलक-फण्ड में से गांधीजी प्रतिवर्ष

१० हजार रुपये देते थे। शायद ३-४ साल तक वह मिलता रहा।

हमने स्वावलंबन की दृष्टि से बढ़ईगिरी, बुनाई, भैंसों का दुग्धालय, खेती और छापाखाना जैसे कई उद्योग शुरू किये। इनके कारण लड़कों को अध्ययन के लिए समय कम पड़ने लगा। बाहर का आन्दोलन भी ठंडा हो चला था। चूँकि हमारे शिक्षण को सरकारी मान्यता मिल नहीं पाती थी, अतः नौकरी की दृष्टि से इस शिक्षण की कीमत शून्य थी। इन सभी कारणों से विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी। अन्त में वे ही छात्र रह गये, जो या तो अनाथ थे या जिन्हें दूसरा कोई चारा ही नहीं था।

मेरी दौड़धूप बराबर बनी रही। मेरी तीव्र इच्छा थी कि शाला में खेती चले और उससे हम स्वावलंबी बनें। मैंने गांधीजी के सामने अपना विचार रखा। लेकिन गांधीजी का मत था कि खेती-सुधार और खेती की उपज की कीमत निश्चय करना, ये दोनों हमारे बस की बात नहीं। अतः इसमें हानि की ही अधिक संभावना है। उनका यह भी विचार था कि आन्दोलन के समय हमें काम करना हो, तो अपने पास ऐसा ही काम रखना अच्छा होगा, जिसमें हम चाहें जब बोरिया-बिस्तरा बाँधकर कहीं भी जा सकें। पूंजी और स्थायी खर्च का झंझट अधिक न रहे। लेकिन मेरी माँग पर ही उन्होंने स्वावलंबी राष्ट्रीय शाला के लिए १० हजार रुपये प्रयोग के निमित्त दिये।

बेलापुर में हमारे मित्र श्री आगाशेजी की अपनी खेती काफी बड़ी थी। वहाँ हम तीन शिक्षक और दस विद्यार्थी पहुँचे और प्रयोग शुरू किया। श्री काका कारखानीस, परचुरे शास्त्री, मैं और श्री के० ग० देवधर, दिगंबर कदम आदि छात्र थे। हम लोगों ने आठ बैल खरीदे और हल्दी, गन्ना, बाजरा आदि सभी फसलें तैयार कीं। साधारण किसान की अपेक्षा हमने ज्यादा मेहनत की। बड़े अभिमान, हिम्मत और स्पर्धा से खेती की। लेकिन हमारी बदनसीबी थी कि १९२४-२५ में भाव गिर गये और सभी प्रयोगों में सौ का अस्सी ही हाथ लगा।

गांधीजी का कहना सही निकला। १९२६ में गांधीजी फिर चिंचवड आये। फिर उन्होंने अपना विचार समझाया और खादी से स्वावलंबन साधने को कहा। तभी मैंने पहले-पहल खादी के शास्त्र की बात सुनी। उसके नये प्रयोग साबरमती में चले थे। बेलापुर में हम लोग जितने गये थे, सभी खादी-शिक्षण के लिए साबरमती गये। खादी-शिक्षण लेकर चिंचवड के विद्यालय को स्वावलंबी बनाने की इच्छा से ही हमने चिंचवड छोड़ा और साबरमती के आश्रम को पकड़ा।

अ० भा० चरखा-संघ की ओर से साबरमती में खादी का तांत्रिक शिक्षण शुरू हुआ था। हमारी टोली पहली ही थी। समूचे भारत से ७५ लोग आये थे। महाराष्ट्र की ओर से हम सात व्यक्ति थे—३ शिक्षक और ४ विद्यार्थी। अभ्यास-क्रम में २०० गज की बुनाई और १० सेर सूत-कताई थी।

माना गया था कि इसके लिए ढाई साल लगेंगे। वहाँ के शिक्षक थे, कृष्णदास भाई गांधी और बालकोबा भावे। मगनलाल गांधी प्रमुख थे। हमें हर माह १२ रुपये छात्र-वृत्ति मिलती थी। १ साल और ५ महीने में ही मेरा अभ्यास-क्रम पूरा हुआ। इसके बाद ६ महीने बिक्री-शिक्षण के लिए बंबई के कालबादेवी खादी-भंडार में मुझे भेजा गया। इसके बाद उत्पत्ति-केन्द्र का काम सीखने के लिए बेलगाँव जिले में हुदली केन्द्र में मैं २ महीने रहा।

इस डेढ़ वर्ष के आश्रम-जीवन-काल में मुझे कई नये अनुभव मिले। तब तक मेरी वृत्ति और दृष्टि प्रांतीय थी, संकुचित थी। जो कुछ भी त्याग है, वह महाराष्ट्र में ही है—इस प्रकार का वृथाभिमान था। ज्ञान का भी अहंकार था। लेकिन समूचे भारत से कई ज्ञानी, तपस्वी विद्यार्थी गांधीजी के विचारों से सहमत होकर वहाँ आये थे। उनके सहवास के कारण मेरी प्रांतीयता कम हुई। आश्रम में सब समभाव से रहते थे।

वैसे देखा जाय, तो आश्रम का हमारा खर्च साधारण मध्यम वर्ग के लोगों के खर्च की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। महाराष्ट्र में तो उस पर सर्वत्र टीका-टिप्पणी भी होती थी, उस 'त्याग' पर छींटाकशी भी होती रही। लेकिन इन लोगों ने ४-५ लाख की मिल्कियत और हजारों की आमदनी के धंधे गांधीजी को समर्पित कर दिये थे और १५-२० रुपये का जीवन अपनाया हुआ था। त्याग यानी गरीबी नहीं। वह मन

की एक शक्ति और जीवन की वृत्ति है। उसकी कीमत इस बात पर अवलंबित है कि उसके पहले के जीवन में कितना और क्या परिवर्तन होता है। केवल रुपये-पैसे से उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। सारे भारत के इस त्याग का दर्शन मुझे आश्रम में हुआ। त्याग और ज्ञान केवल महाराष्ट्र में ही नहीं, समूचे भारत में है, परिस्थिति के अनुसार उसका दर्शन हम लोगों को होता रहता है।

ऐसे अनेक लोगों को साथ लेकर गांधीजी सामुदायिक जीवन का प्रयोग कर रहे थे। पाखाना-सफाई से लेकर युक्ताहार तक के सारे प्रयोग होते थे। ४०-५० स्त्रियाँ भी आश्रम में थीं। भोजन एकत्र करने के कारण उन्हें भी फुरसत मिलने लगी। 'बालवाड़ी' शुरू की गयी। गांधीजी सब पर संस्कार करते थे। जीवन के किसी भी अंग को उन्होंने कम या ज्यादा महत्त्व नहीं दिया। सर्वांगीण जीवन सुधारने का और बदलने का वह प्रयोग था।

गांधीजी के रहने से सायं-प्रार्थना को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ था। एक बार उन्होंने कहा : "हम जो भी काम करें, उसमें परमेश्वर का दर्शन होना चाहिए। पत्थर फेंकने में भी राम-नाम लेने जैसा समाधान मिलना चाहिए। काम में से प्रसन्नता बढ़नी चाहिए।"

इस पर मैंने उनसे प्रश्न किया। कहा : "काम से इस प्रकार का समाधान मुझे तो नहीं मिलता। मेरी श्रद्धा नहीं बढ़ती, बौद्धिक दृष्टि से खादी पर मेरा विश्वास नहीं जमता।"

बाद में उन्होंने मुझे बुलाकर मेरी सारी जीवनी सुन ली। पहले तो मुझसे कहा कि "छह महीने कहीं भी एकान्त में रहो", लेकिन यह मेरे लिए सजा थी। छह घंटे भी अकेला रहना मेरी जान पर आता है। इसलिए फिर उन्होंने कहा : "आखिर विश्वास तो काम से ही निर्माण होता है। प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के दो ही रास्ते हैं, एक श्रद्धा रखना या दूसरा ज्ञानपूर्वक आचरण करते रहना। तुम्हारा जीवन और तुम्हारे मन की बनावट जिस प्रकार की है, उसे देखते हुए दूसरा कोई गुरु तुम्हें मिल नहीं सकता। तुम्हें खुद ही अपना मार्गदर्शक बनना चाहिए। तुम १२ साल यह खादी का काम तपस्या के रूप में करो। तुम्हारे काम से ही तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिलने लगेगा।"

गांधीजी के ये शब्द आज इतने दिनों के बाद भी मुझे याद आ रहे हैं। अभी तक मुझे 'गुरु' नहीं मिला, पर मेरे जीवन पर गांधीजी के जीवन की गहरी छाप पड़ी है। वे जिस जीवन-पद्धति को मानते थे, जो सिद्धान्त कहते थे, उन पर उनका अपना पूर्ण विश्वास रहता था। अक्षरशः वे उनका आचरण भी करते थे। मुझे याद है, उनका एक नाती एक बार खादी-काम के लिए बिहार भेजा गया था। १८-१९ साल का लड़का! वहाँ जाकर बीमार पड़ा और वहीं मर भी गया। लेकिन गांधीजी ने उसके माता-पिता या किसीको उसके पास वहाँ जाने नहीं दिया। वे कहते थे : "बिहार के लोग भी अपने ही हैं और वे अपने सगे बच्चे की तरह यथा-

सम्भव सभी उपचार करेंगे। यह तुम भी मानोगे या नहीं ?" सचमुच आश्रम में जो भी बीमार पड़ता, गांधीजी उसकी सेवा माँ से भी अधिक ममता के साथ करते। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' इस प्रकार के इस लोकोत्तर पुरुष ने भारत के गत तीन तपों (तप=१२ वर्ष) का इतिहास बनाया है और मेरे जैसे अनेक लोगों के जीवन सार्थक कर दिये हैं।

आश्रमीय जीवन के लिए अनुशासन चाहिए। परिवार जितना बड़ा हो, सहिष्णुता, प्रेम और व्यवस्थितता भी उतनी ही अधिक चाहिए। नव-समाज-निर्माण के लिए संस्कार देनेवाले व्यक्ति को भी उतना ही तेजस्वी रहना पड़ता है। अन्यथा इस आश्रमीय जीवन में उतना ही बड़ा धोखा है, क्योंकि अव्यवस्था और पारस्परिक द्वेष भी उतने ही परिमाण में बढ़ सकते हैं। तब आश्रम-जीवन केवल विडंबना बन जाता है। असहिष्णुता और त्याग का अहंकार बढ़ता है। आश्रमों की ऐसी विडंबनाएँ जगह-जगह देखने को मिलती हैं। हम आज आश्रम चलाने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। मुझे कभी-कभी महसूस होता है कि ऐसे आश्रमों की अपेक्षा साधारण गृहस्थी में ही साधारण मनुष्य का सही विकास होता है।

गांधीजी के सामने आदर्श ग्राम-परिवार की भव्य कल्पना थी। उन्होंने निरंतर ग्रामीण जीवन की सभी समस्याओं का हल खोजने का प्रयत्न किया। वहाँ हमेशा तकली, चरखा; ग्रामोद्योग आदि पर कई तरह के प्रयोग होते रहते। विनोबा ने तकली-कताई की गति ८० तार से ३५० तार तक पहुँचायी।

किसी भी प्रयोग के लिए रुपया, बुद्धि और सातत्य की अत्यन्त आवश्यकता होती है। भारतीय ग्रामीणों के जीवन को लेकर इस प्रकार के प्रयोग गांधीजी ने ही किये और उसमें पैसा तथा शक्ति उँडेल दी।

किसी भी काम में सातत्य के साथ जीवन खपाने की वृत्ति हम लोगों में कम है। ३०-४० साल साधना करते रहने पर ही कुछ शोध की जा सकती है। मनुष्य की बुद्धि साधारण से असाधारण की ओर, दृष्ट से अदृष्ट की ओर खिंचती जाती है। राष्ट्र-सेवा-दल या अन्य सङ्गठनों द्वारा इसी तरह की शोधक बुद्धि बढ़ाने के यत्न शुरू होने चाहिए। ये ही प्रवृत्तियाँ आज जरूरी हैं। ऐसे शोधक व्यक्ति हमेशा एकांगी रहते हैं। पर यह अपरिहार्य है। यों एक-एक विषय में रमे हुए कई लोग वहाँ गांधीजी के कारण आये और उन्होंने देहातों से भरे भारत का उद्धार करने में अपनी सारी शक्ति लगायी। आश्रम में रहने से इन सभी बातों के महत्त्व और भव्यत्व का मुझे दर्शन हुआ। मेरी आँखों पर से प्रांतीयता का परदा हट गया और मैं सही अर्थ में भारतीय बना।

आज इस आश्रम-जीवन का प्राण चला गया है। हमारे विचार अहंकारी बन गये हैं। सारा कर्मकांड खड़ा हो गया है। सब अन्धे बने हैं। परम्परागत ये सारे काम एक प्रकार से अभिशाप बन गये हैं। क्रान्ति की भाषा पोली हो गयी है। यदि मनोभूमिका उन्नत नहीं बनती, तो ये सारे बाह्य कर्म हमेशा के लिए हास्यास्पद और पोले सिद्ध होते हैं। आज

लोगों की मनःस्थिति और परिस्थिति बदल रही है, उसका आकलन हम पुराने कार्यकर्ता नहीं कर पाते। यही कारण है कि हम आज की तरुण पीढ़ी तक पहुँच नहीं पाते। केवल 'सर्वोदय' का जप और गांधीजी के कहे गये शब्दों का पुनरुच्चारण ही कर रहे हैं। कोई भी महापुरुष चला जाता है, तो उसके अनुयायियों की यही हालत होती है। इतिहास इसका साक्षी है। विचार की अपेक्षा कर्मकाण्ड बढ़ जाता है। गांधीजी का व्यक्तित्व बड़ा था। अतः ये कर्मकांड उस समय उज्ज्वल दीखते थे। पर उनके पीछे के विचार में ही असली शक्ति होती है। विचारों को हजम करने की ताकत न हो और केवल कर्मों का ही अनुकरण हो, तो यह टिक नहीं सकता। क्षुद्रों के हाथ में महापुरुषों का काम जाते ही निर्बुद्धता और अहंकार बढ़ते हैं। आखिर युवक पीढ़ी कब तक इसे सह सकेगी ?

सातत्य से कोई काम करते रहने की मेरी वृत्ति नहीं थी। आज भी मैं किसी एक काम के पीछे इस प्रकार नहीं लग सकता। लेकिन जो काम सामने आया, हाथ में लिया, उसमें पूर्ण रूप से एकरूप होने की कला मैंने आश्रम में सीख ली। वहाँ मैंने यह भी सबक सीखा कि काम चाहे छोटा हो या बड़ा, उसे करने की कुशलता और वृत्ति पर ही उसका महत्त्व अवलंबित है।

१९२८ के जून में मैं कालबादेवी खादी-भंडार में बिक्री-कला सीखने आया। तब मेरी पोशाक थी, एक धोती

और एक कमीज। मैं जमनालालजी की गद्दी में रहने लगा। वहाँ दो वक्त खाना मिलता, पर जेब-खर्च के लिए एक पैसा भी नहीं। कभी दाढ़ी बढ़ जाती, बाल बनवाना होता, पर वह भी सम्भव न था। भंडार में कोई सोच भी नहीं सका कि मुझे पढ़ना-लिखना आता है। सभी मुझसे कुली-गिरी करवाते। वहाँ के व्यवस्थापकजी ने कहा : "तुम्हें यहाँ का शिक्षण पूरा करने के लिए दो-ढाई साल लगेंगे।"

मैं चुप रहा। आखिर साबरमती से ६ मास बाद एक पत्र आया कि "अमुक आदमी को ६ महीने पहले आपके यहाँ भेजा गया था। उन्हें हिसाब-विभाग में लेना है। उनका अभ्यास-क्रम पूरा हुआ या नहीं?" तब तक मैं खादी की गाँठें ही बाँधता रहा। फिर तो दौड़धूप शुरू हुई। व्यवस्थापकजी ने पूछा : "तुम्हें पढ़ना-लिखना आता है?" मैंने कहा : "थोड़ा-बहुत जानता हूँ।" बस, ढाई साल का अभ्यास-क्रम १५ दिनों में ही समाप्त हो गया। बाद में खादी-उत्पत्ति के शिक्षण के लिए मैं हुदली ३॥ महीने के लिए गया।

१९२९ के मार्च में पूना आया। चरखा-संघ ने मुझे फिर परीक्षा देने को कहा। मैंने इनकार कर दिया, क्योंकि बुनाई, कताई आदि कारीगरी की परीक्षा देने के लिए फिर दो महीने तैयारी में लगाने पड़ते। जब अभ्यास था, तभी परीक्षा ली होती। अब चाहे तो केवल बौद्धिक परीक्षा ली जाय—यह मेरा कहना था। यह कहने पर इस झगड़े को कुछ तात्त्विक रूप मिला। मुझसे उन्होंने कहा कि "परीक्षा नहीं

देते, तो हम तुम्हें नौकरी भी नहीं देंगे।" मैंने कहा : "ठीक है।"

फिर से मैं चिंचवड की शाला के बारे में सोचने-विचारने लगा। वहाँ फिर लाख-दो लाख रुपये लगाने थे। लेकिन उस संस्था में इतनी ताकत नहीं थी। वहाँ का विद्यालय चलेगा या नहीं, इसका भी विश्वास नहीं था। आन्दोलन जब जोरों पर था, तभी महाराष्ट्र के लोग खादीवादी नहीं बने थे। अब इन साधारण दिनों में खादी का काम सीखने कितने लड़के आ पाते, यह भी एक समस्या थी। उत्पत्ति-केन्द्र चलाना तो असंभव ही था, क्योंकि चिंचवड तो एक औद्योगिक केन्द्र के पास का गाँव था। फलतः चिंचवड की शाला के मेरे सपने टूट गये। मेरे साथी सब अपने-अपने काम पर लग गये। कर्नाटक, गुजरात आदि प्रदेशों में खादी-काम शुरू हुआ। गुजरात विद्यापीठ ने तो काफी नाम कमाया। मेरे साथ के सभी विद्यार्थी गुजरात विद्यापीठ में शिक्षक बन गये थे। अकेला मैं ही बेकार रहा।

श्री जमनालालजी ने मुझे बुलाया और कहा : "तुम महाराष्ट्र का खादी-काम देख आओ, मैं खर्च दूँगा।" मैं पहले-पहल वर्धा गया। उन दिनों महाराष्ट्र चरखा-संघ का प्रधान कार्यालय वर्धा में ही था। महाराष्ट्र का काम श्री दास्तानेजी कर रहे थे। उनका आफिस जलगाँव के पास पिंपराले में था। श्रीकृष्णदास जाजू महाराष्ट्र चरखा-संघ के मंत्री हुए। जाजूजी बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। वे जमना-

लालजी के कानूनी सलाहकार भी रहे। उनकी सुविधा के लिए दफ्तर वर्धा में था।

श्री धोत्रेजी जमनालालजी के सेक्रेटरी थे। १९२८ में उनसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। श्री विनोबा के साथ वे १९१८ में साबरमती आये थे। १९२१ में साबरमती सत्याग्रह-आश्रम की शाखा के रूप में विनोबाजी ने वर्धा में आश्रम शुरू किया। जमनालालजी ने अपनी और अन्य कार्यकर्ताओं की लड़कियों के शिक्षण के लिए वर्धा में महिला-आश्रम शुरू किया। विनोबा और धोत्रेजी, दोनों वहाँ शिक्षण देते थे। श्री वारूताई दास्ताने लड़कियों के छात्रालय की प्रमुख थीं। मैं आया, तब धोत्रेजी के यहीं ठहरा। वे उस समय महाराष्ट्र चरखा-संघ का काम करते थे।

मैं सावली और मूल के खादी-उत्पत्ति-केन्द्र देख आया। उन दिनों तेलंगाना के कई जिले महाराष्ट्र चरखा-संघ के क्षेत्र में थे। वहाँ एक-दो उत्पत्ति-केन्द्र चलाने का विचार था। अतः मैं, जाजूजी और धोत्रेजी तीनों वहाँ गये। कई गाँव देखे। १५ दिन उस भाग में घूमे और तय किया कि वहाँ खादी-उत्पत्ति-केन्द्र शुरू किया जा सकता है। वहाँ घर-घर में चरखा चलता था। बुनकर भी हर गाँव में थे। ८० प्रतिशत लोग खादीधारी थे। कुछ हद तक वस्तु-विनिमय की पद्धति चालू थी। कई बुनकर हाथ का सूत खरीदकर कपड़ा बुनते और हाटों में बेचने जाते। खादी जितनी मोटी होती, उतनी उत्तम मानी जाती। लाखों रुपयों की खादी वहाँ बाजार में आती

और बिकती । वहाँ काम शुरू करने की जिम्मेदारी मुझ पर डाली गयी । २० मई १९२९ को मैंने वहाँ मेटपल्ली में काम आरंभ किया ।

मैंने नौकरी छोड़कर २-२॥ साल शिक्षण लिया, तब १२ रुपये स्कालरशिप मिलती थी । पिताजी रिटायर हो गये थे । वे काफी समय तक मेरे साथ चिंचवड-शाला में पढ़ाते रहे । मैं ३०) का शिक्षक और पिताजी आनरेरी शिक्षक ! सरकारी बंधनों से छुटकारा पाकर शिक्षण क्षेत्र में मुक्त रीति से प्रयोग करने का मौका मिलने का उन्हें बहुत आनन्द था । उनके अन्दर का जन्मजात शिक्षक जाग्रत हुआ था । जातिभेद तोड़ने आदि मेरे सभी कामों में उनका वैचारिक समर्थन था । पर मैं नौकरी छोड़कर साबरमती आया, तब से परिवार में खींचा-तानी खूब चालू हो गयी । मेरा एक चचेरा भाई प्रतिमास २० रुपये भेजता, पर वे भी चुकाने थे । बहनें शादी के लायक हो गयी थीं । दोनों भाई राष्ट्रीय शाला से मैट्रिक पास होकर 'पायोनियर डाइंग हाउस' में नौकरी करने लगे थे । कर्ज तो दुगुना हो चला था । शायद जमनालालजी को इन सारी बातों का पता रहा होगा । उन्होंने श्री जाजूजी से कहा था कि अण्णा के वेतन के बारे में आप तय न करें, मैं देख लूँगा । उन्होंने मुझसे मेरे वेतन के बारे में पूछा । मैंने ७५ रुपये मासिक की माँग की और उन्होंने उसे मंजूर कर लिया । मेरा खर्च तो ८-१० रुपयों का ही था । बाकी का सारा पैसा घर भेज देता । इस प्रकार वह एक चिंता मिटी ।

मैं मेटपल्ली तो आया, पर वहाँ हर तरह से अपरिचित था। लोग यही समझते थे कि गांधी का राज्य आया है और वह अस्पृश्यता तोड़ने आया है। उसी दल का यह एक है। मैं उस कंपनी का नौकर हूँ, अतः मैं हरिजन ही हूँ, यह उन लोगों की पक्की धारणा बन गयी थी। इसी कारण आरंभ में दो-ढाई महीने मुझे रहने को जगह तक नहीं मिली। मेटपल्ली के एक मंदिर के चबूतरे पर सोता और दिनभर घूमता रहता। सुबह दो पैसे के चावल, एक पैसे का तेल और एक पैसे की भाजी लेकर सब इकट्ठा एक ही बर्तन में पकाता और नदी के किनारे खा लेता—यह मेरा क्रम चलता था।

वहाँ के व्यापारी 'कोमटी' थे। वे चाहते थे कि मैं उनकी ओर से ही काम करूँ। लेकिन मेरी इच्छा थी कि प्रत्यक्ष बुनकरों से ही सम्बन्ध जोड़ूँ। मैं हरिजन माना गया था, इसलिए ब्राह्मण मेरा विरोध करते और बुनकरों तक मैं पहुँच गया, इसलिए कोमटी भी विरोध करते। वहाँ की भाषा भी मेरे लिए नयी थी। लेकिन आखिर मैंने एक मुसलमान और एक कोमटी, ऐसे दो दुभाषी नौकर रख लिये। सप्ताह में ३ दिन एक और बाकी ३ दिन दूसरा मेरे साथ रहता। मैं रोज ८-१० मील घूमता और इस तरह सतत घूमने के काम में मेरे साथ एक ही नौकर टिकता न था। मेरा सम्बन्ध धीरे-धीरे आसपास के लगभग ९०-१०० गाँवों से आने लगा।

आगे चलकर रहने के लिए किराये पर एक जगह भी

मिल गयी। शुरू में मेरे हाथ से नोट भी कोई नहीं लेता था। गांधी-राज्य का नोट हो तो ? लेकिन आगे चलकर विश्वास होने लगा। मेरे नोट गांधी बाबा के नहीं, टकसाली रुपये ही हैं, इसमें संशय नहीं रहा। फिर तो मेरा खादी का काम खूब जमने लगा। बुनाई मैं अच्छी तरह जानता था, अतः बुनकर मुझे चकमा नहीं दे सकते थे।

मेटपल्ली क्षेत्र में भयंकर गरीबी है। कहीं आसपास औद्योगिक केन्द्र या शहर नहीं। बहुत पिछड़ा हुआ प्रदेश है। साधारण दुख-दर्द के लिए भी वहाँ लोगों को दवा नहीं मिल पाती। सड़े हुए जख्मों और चमड़े की बीमारी के लिए मैंने पुलटिस बाँधना, सेंकना आदि सीधे-सादे उपाय शुरू किये। वर्धा के एक वैद्यजी से ८-१० दवाएँ भी ले गया और उपचार शुरू किया। लोग मुझे शुरू-शुरू में 'महाराज' कहते थे। दवा देने का तुरन्त ही लाभ हुआ। वहाँ मुसलमानों में परदा-प्रथा जोरदार है, लेकिन दवा देने लगने पर 'महाराज' के सामने परदा वगैरह की जरूरत नहीं रही। मैंने शराब न पीनेवालों का एक संघ बनाया। लड़कों का भी एक दल शुरू किया। साथ-साथ स्नान के लिए तालाब ले जाना, यही एक इस दल का कार्यक्रम था। लेकिन इससे छोटे लड़कों से खूब परिचय हुआ। वे रात्रि के समय पढ़ने भी आने लगे। मेरा एकाकीपन समाप्त हुआ। दिन-रात मैं काम में लगा रहता, खुश और मस्त रहता। धीरे-धीरे जैसे धन्धा बढ़ने लगा, वैसे ही एक-दो सहयोगी कार्यकर्ता भी चरखा-संघ ने भेजे।

३

मेरा काम बढ़ रहा था। चावल पकाना और फिर खाना, इतना भी समय क्यों इसमें खर्च करें ? ऐसा विचार मन में आता था। मैंने तय किया कि सीधा कच्चा अनाज भिगोकर अंकुरित करके खा लें, तो क्या हर्ज है ? फिर कन्धे पर के थैले में यह भोजन ले जाना और रखना भी आसान है। बस, मैं कच्ची सब्जी, फल और अंकुरित अनाज खाने लगा। लेकिन समय बचाने के लिए किया गया यह प्रयोग जान पर आया। कच्चा खाने से या पता नहीं क्यों, एक दिन जोरों का बुखार आया और वह विषम ज्वर हो गया। मैं बड़े सोच में पड़ा। कम-से-कम आवश्यकता पड़ने पर वर्धा से सम्बन्ध जोड़ते बनना चाहिए। उस समय तो वहाँ आने-जाने का कोई साधन भी नहीं था। फलतः मैंने तय किया कि शरीर में जब तक ताकत है, तब तक किसी रेल्वे लाइन के पास पहुँच जाऊँ और एक भरी बैलगाड़ी में बैठकर ३४ मील दूर मामेडपल्ली गाँव चला आया। वहाँ एक खादीधारी वकील जमींदार थे। मैं उन्हींके घर में—यानी बरामदे में—पड़ा रहा।

नौ दिन तक मेरे शरीर में खूब बुखार था। दो-तीन दिन वायु का प्रकोप भी हुआ। इन सबका एक ही इलाज याने कोरा उपवास ! वह तो मैंने किया। फिर धीरे-धीरे खाने लगा। लेकिन वहाँ बड़ा अजीब अनुभव मिला। मेरी पत्तल नाली के पास लगायी गयी। मेरे मन में आया, शायद मेरा यहाँ रहना इन लोगों को ज्यादा कष्टदायक होता हो।

जीवन में वही पहला प्रसंग था, जब मुझे लगा कि मैं एकाकी हूँ, असहाय हूँ। मुझे एकदम कभी ऐसी असहायता का अनुभव नहीं होता। अमुक आदमी अपना है या पराया है, ऐसी भावना ही करीब-करीब खतम हो गयी है। कहीं भी जाऊँ, आत्मीयता से देखनेवाले लोग हैं ही। सभी समान और निकट के ही हैं। लेकिन जब शारीरिक दुर्बलता असह्य हो जाती है, तब यह एकाकीपन मुझे परास्त कर देता है और इस दृष्टि से तो मेटपल्ली में मैं बिलकुल नया था। शारीरिक कष्ट से मैं हार नहीं खाता था, लेकिन शारीरिक कमजोरी मेरे लिए अपरिचित थी। मुझे लगा, मेरा भार दूसरों पर नाहक पड़ रहा है। बुखार उतरने पर दो-तीन दिन में ही मैं फिर नीम के पत्ते गाड़ी में भरकर वापस ३४ मील चलकर मेटपल्ली आया। बाद में मुझे पता चला कि मुझे हरिजन समझकर मेरी पत्तल नाली के पास लगायी गयी थी।

• • •

मैं मनुष्य बना : ३ :

मार्च १९३० के पहले सप्ताह में मेरे पिताजी का देहांत हुआ। मेरे पास ८ मार्च को खबर आयी और मैं अपना सारा काम सहायकों को सौंपकर पूना लौट आया। मेरी कल्पना थी कि क्रिया-कर्म समाप्त कर फिर मेटपल्ली जाऊँ। लेकिन १९३० का सत्याग्रह शुरू होनेवाला था। ६ अप्रैल को नमक-सत्याग्रह आरम्भ होने जा रहा था। तय हुआ कि चिंचवड की राष्ट्रीय शाला की टोली विलेपार्ले-सत्याग्रह-शिविर में भर्ती हो। पूना होते हुए विलेपार्ले जाने का हमने निश्चय किया। पिताजी के देहावसान को १५ ही दिन हुए थे, लेकिन घर का पाश अब मुझे बाँध नहीं सकता था। मैं महाराष्ट्र की पहली सत्याग्रही टोली में विलेपार्ले गया।

फिर से सत्याग्रह के बड़े दफ्तर की जिम्मेवारी मुझ पर आनेवाली थी, लेकिन पिछले मुलशीपेट-सत्याग्रह के समय मेरा जेल जाना रह गया था और इस बार जेल का दर्शन करने का मैंने तय ही कर लिया था। मैं गत २-३ सालों से इधर नहीं था। इस सत्याग्रह के लिए महाराष्ट्र में एक युद्ध-समिति बनी थी। शंकरराव देव, जावडेकर, दास्ताने, अप्पासाहब पटवर्धन, ये सारे उस समिति में थे। श्री अप्पासाहब पटवर्धन वेंगुर्ला छावनी में गिरफ्तार हुए। उनके बाद दास्ताने प्रमुख बनाये गये और उनकी गिरफ्तारी के बाद छावनी का काम मुझ पर

पड़ा। विलेपार्ले में पहले जुटकर बाद में कोंकण के तटवर्ती प्रदेश में हम फैलने लगे। वहाँ से रत्नागिरी और आगे मालवण गये। मैंने एक महीने तक उस छावनी का संचालन किया। मालवण के नागरिकों ने कल्पनातीत सहायता की। प्रतिदिन गाँव की २०-२५ स्त्रियाँ रसोई बनातीं और ५०० लोग भोजन करते। सरकार स्वयंसेवकों को गिरफ्तार न कर केवल नेताओं को ही पकड़ने लगी थी। मैं रोज समुद्र के किनारे व्याख्यान देता। १०-१२ हजार लोग आते थे। सरकारी नौकर, मामलेदार आदि सभी व्याख्यान में आते थे। मैंने दस-दस, बीस-बीस की टोलियाँ बनायीं और मालवण, देवगड, वेंगुर्ला, इन तहसीलों को अक्षरशः घेर लिया।

रत्नागिरी में मछुए (गाबीत जाति के) लोग इस आन्दोलन में बहुत मदद करते थे। मछली बनाने में नमक लगता था। वह हाथ से ही तैयार करके काम में लेने का मौका इस सत्याग्रह के कारण उन्हें मिलता था। उनके कई लड़के सत्याग्रह में आये थे। केवल भाषणों से धर-पकड़ नहीं होते लगी, इसलिए ३ मई को शिरोडे की नमक की खान पर मोर्चा बाँधा गया। हम ७०० सत्याग्रही थे और उतने ही पुलिसवाले भी। सत्याग्रह के साथ लोगों की भरपूर सहानुभूति थी और इसीलिए पुलिसवाले को पीने का पानी तक नहीं मिलता था!

तब छावनी में तात्त्विक चर्चा शुरू हुई, 'क्या शत्रु का खाना-पीना बन्द कर देना अहिंसक युद्ध के लिए उचित है?'

हमने तय किया कि उनका खाना-पीना बन्द नहीं करना चाहिए। हमने कई बार अपनी छावनी से पुलिस को खाना-पीना पहुँचाया। तब वास्तव में सही धर्म-युद्ध शुरू हुआ। उनके ऊपर के अधिकारी और हमारे नेता लोग अपनी-अपनी योजना के सम्बन्ध में एकत्र बैठकर चर्चा करते और तय करते थे। धर-पकड़ शुरू होने पर जिन-जिनको पकड़ा जाता, उन्हें रखा भी कहाँ जाय? वे भी पुनः हमारी छावनी में ही आ जाते। इस तरह इस सत्याग्रह को करीब-करीब कबड्डी के खेल का स्वरूप आ गया था—नाम लिखकर जो आउट हो जायँ, वे फिर सत्याग्रह न करें। फिर भी अन्त तक गोली-काण्ड नहीं हुआ। सावन्तवाडी से कई लोगों को छोड़ दिया गया। फिर कुछ चुने लोगों को जेल भेजा गया। इस वक्त मुझे छह महीने की सजा हुई। मैं रत्नागिरी जेल में था। तब वहाँ अप्पासाहब पटवर्धन, डॉक्टर आठल्ये, वि० म० भुस्कुटे, आचार्य जावडेकर, रावसाहब पटवर्धन, डॉक्टर लागू आदि सभी थे। बी-क्लास में रखे जाने के कारण मैं कम्यु-निस्ट-साहित्य का बहुत-सा अध्ययन कर सका।

वहाँ से छूटने के बाद मैं ५-६ रोज पूना रहा। फिर रत्नागिरी जिले में मालवण में काम करने लगा। विदेशी कपड़े का बहिष्कार और शराब-बन्दी का आन्दोलन शुरू हुआ। हम लोगों ने मालवण तहसील में विदेशी कपड़े की पूरी-पूरी नाकेबंदी की थी। शराब की सभी दूकानें बंद करा दीं। शराब-बंदी के सम्बन्ध में मेरे एक व्याख्यान पर 'चॅप्टर केस'

किया गया और एक साल की सादी सजा हुई, पर गांधी-इरविन-समझौते के बाद मैं छूट गया। फिर मालवण पहुँचकर खुल्लमखुल्ला नमक की खानें शुरू कीं। हम लोगों ने गांधीजी को एक करोड़ गज सूत अर्पण करने का कार्यक्रम अपनाया और सूत-कताई का काम जोरों से शुरू किया। परन्तु इस समय मैं छावनी में अधिक दिन नहीं रहा।

मछुओं के समाज में मेरी खूब जान-पहचान हो गयी थी। मैं उन्हींके बीच रहता, उन्हींके साथ समुद्र में तम्बुओं में सोता और उनके धन्धे का संघटन करने का प्रयत्न करता। प्रत्येक आदमी रोज एक आने का अनाज छावनी के लिए देता। दूसरों के यहाँ बारी-बारी से भोजन भी मिलता।

इन्हीं दिनों में आँधी और वर्षा ने मालवण तहसील पर जोरों का हमला किया। कई घर बह गये। उनकी सहायता का काम शुरू हुआ। मदद के रूप में बम्बई में एक लाख रुपये इकट्ठा हुए। श्री ए० बी० पण्डित उस समय रिलीफ-कमेटी के प्रमुख थे। मछुओं के खाने-पीने की व्यवस्था हो जाने पर मैंने उनके लिए झोपड़ियाँ बनाने में मदद देना शुरू किया। मैं हरएक के घर के खर्च का अन्दाज लगाने, योजना तैयार करने और पैसा बाँटने में ही लीन रहा।

सन् १९३२ की जनवरी में फिर सत्याग्रह शुरू हुआ। इस सहायता-कमेटी के १०-२० हजार रुपये अलग-अलग व्यापारियों के पास जमा थे। यह सारा पैसा उनसे निकालने और बाँट देने के बाद ही सत्याग्रह में जाने का मैंने तय किया।

लेकिन मेरे नाम से वारंट निकला हुआ था। मुझे गिरफ्तार कर देनेवाले को १०००) का इनाम घोषित किया गया था। मैंने १५-२० दिनों में अपना काम पूरा कर लिया। २० पुलिसवालों की एक टोली मुझे पकड़ने के लिए रवाना हुई थी। मुझे भी मजा आने लगा। पुलिस से बचते हुए रोज एक भाषण करने का मैंने तय किया। वह पकड़ने आती, उससे पहले ही सभा समाप्त कर, वह गाँव छोड़कर मैं दूसरे गाँव में पहुँच जाता। तब पुलिस ने मुझे आश्रय और सहायता करनेवालों को ही पकड़ना शुरू किया। ८० लोग पकड़े गये और २०० लोगों पर नोटिस जारी की गयी। मुझे लगा कि अपने लिए दूसरों को इस तरह तकलीफ पहुँचाना ठीक नहीं। इसलिए ३० जनवरी १९३२ को मालवरण में समुद्र के किनारे व्याख्यान देने की सूचना मैंने स्वयं जाहिर कर दी।

पुलिस ने मुझे मालवरण न घुसने देने की पूरी तैयारी रखी थी। लेकिन अपने मछुआ मित्रों की मदद से मैं एक आदमी की छोटी किश्ती द्वारा मालवरण पहुँच ही गया। श्री मधुकर भांडार-कर के यहाँ एक गुप्त बैठक हुई और सुबह आठ बजे नियत समय पर आम सभा में भाषण देने गया और वहीं गिरफ्तार हो गया। फिर रत्नागिरी जेल में दो वर्ष और बिताये। इस बार जेल में मेरी तबीयत बहुत ही खराब हुई। सात-आठ घण्टे चक्की पीसने से शरीर अन्दर-ही-अन्दर सूखने लगा। कब्ज की शिकायत बढ़ने लगी। इसका आँखों पर भी असर

हुआ। पढ़ने-लिखने की सुविधा इस बार नहीं थी, क्योंकि मैं 'सी' क्लास का कैदी था।

१४ जनवरी '३४ को मैं छूटा। और एक-दो दिन पूना में रहा। इसी समय बिहार के भूकम्प से सारा देश थर्रा उठा था। घर में रहने की मेरी भी इच्छा नहीं थी। अतः बिहार-भूकम्प-सहायता-समिति की ओर से मुजफ्फरपुर में बेलसंडा थाने में गया। वहाँ बिहार में ढाई-तीन हजार स्वयंसेवक काम करते थे। मुझे पहले-पहल आश्चर्य हुआ कि इतने लोग अपना घर-बार छोड़कर केवल खाने के सिवा कुछ भी लिये बिना यहाँ काम कर रहे हैं, तो इनके घर की क्या हालत रही होगी। लेकिन हमारी और बिहार की परिस्थिति में बहुत अन्तर है। वहाँ तो दो-तीन भाई खेत पर काम करते हैं, फिर अगर एकआध को देश-सेवा के लिए बाहर जाना पड़े, तो भी उसके परिवार की जिम्मेवारी सब मिलकर सँभाल लेते थे।

बिहार की गरीबी का भयानक रूप पहले-पहल मैंने वहाँ देखा। वहाँ अस्पृश्य रहते हैं। घर में दो-तीन स्त्रियाँ होने पर भी बाहर जाते समय पहनने लायक एक ही कपड़ा रहता है। बाकी लोग फटे-पुराने कपड़े के बीच अधनंगे घर में पड़े रहते। एक पैसे के शकरकन्द में ही सबका भोजन हो जाता। वह भी न मिला, तो तालाब की सीपों से कीड़े निकालकर खा लेते और उसी पर दिन बिताते।

जमींदार-वर्ग वहाँ बड़ा सम्पन्न था। उनके यहाँ अनाज

की कोठियाँ भरी रहतीं। दरवाजे पर हाथी बँधे रहते, पाँच-दस नौकर पानी लाने और बदन रगड़ने में सदा लगे रहते। सामंतवादियों की जमींदारी पद्धति से यह अमीर जमींदार-वर्ग पैदा हुआ था। बाकी लोग केवल गुलाम के नाते जीते थे। बिहार में नम्रता नहीं, जो कुछ है, वह लाचारी है।

जेल में मैंने बहुत-सा साम्यवादी साहित्य पढ़ा था। लेकिन सामन्तशाही का यह नग्न दर्शन पुस्तकों की अपेक्षा अधिक परिणामकारक था। मेरी रचनात्मक वृत्ति को गहरा धक्का लगा।

१९२४ में गांधीजी ने उपवास किया था, उस समय उनसे मैंने काफी चर्चा की थी। मेरा विश्वास था कि यदि कोई जनता का संघटन खड़ा करना हो, तो रचनात्मक कार्य द्वारा ही संभव है और इसे छोड़ प्रत्यक्ष राजनीति के काम में पड़ने की जरूरत नहीं है। गांधीजी के नेतृत्व में भारत की कई राजनैतिक धाराओं की शक्ति अंग्रेजों के विरुद्ध एकत्र हुई थी। जब तक स्वातंत्र्य न मिलता, तब तक इसके फूटने का डर भी नहीं था। परन्तु बिहार का वह दृश्य देख मुझे भावी परिस्थिति का अन्दाज लगने लगा। मुझे लगा कि यह भूखी जनता और कांग्रेस के प्रतिष्ठित श्रीमान् जमींदार वर्गों के बीच लड़ाई अवश्यम्भावी है। बिहार के कई मित्रों ने मुझसे बिहार में ही काम करने को कहा। तब मैंने उनसे कहा कि "यदि मैं बिहार में रहा, तो भी कांग्रेस में निश्चय ही नहीं रहूँगा।"

७-८ जुलाई को मैं वर्धा आया। वहाँ से फिर मेटपल्ली गया। वहाँ का काम खूब ही बढ़ा था। हर साल १० लाख से अधिक की खादी-उत्पत्ति होने लगी थी। उस समय वहाँ श्री द्वारकानाथ लेले थे। अभी-अभी उनकी शादी हुई थी। मैं, दास्ताने और शंकरराव देव तीनों भोजन करने उनके यहाँ गये। शादी के निमित्त २-४ लड्डू खाने के बाद मैंने कहा : "मेरा खाना हो गया।" फिर भी उनका आग्रह बन्द नहीं हो रहा था। तब हमने कहा : "आप जब तक परोसते रहेंगे, तब तक हम खाते रहेंगे। आप थक जायँ, तब परोसना बन्द कर दें।" आखिर लड्डू खतम हो गये। सौ० कमुताई लेले भी इतनी आसानी से हार माननेवाली नहीं थीं। उन्होंने आटा साना, फुलके बनाने लगीं। वे भी खतम हो गये। अन्त में उन्हें हार माननी पड़ी। कमुताई प्रभु-परिवार की हैं। खाने का हमारा यह ठाठ उन्होंने हमेशा याद रखा और उनसे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध भी हमेशा के लिए हो गया।

मेटपल्ली का काम एक लाख से बढ़कर दस लाख तक पहुँचा है, इससे मुझे तनिक समाधान नहीं था। मेरा मत था कि इसमें सही माने में कोई भी रचनात्मक दृष्टि नहीं रही। मैंने दूसरों से भी कहा कि "खादी का व्यापार करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी जैसी यह कम्पनी हमने खड़ी की और हम भी लोगों का शोषण ही कर रहे हैं।"

यह सच है कि व्यापार बढ़ने से लोगों की जेबों में दो के बदले चार पैसे पड़ने लगे। लेकिन साथ ही शराब की

विक्री भी प्रतिमास एक हजार से बढ़कर आठ हजार तक पहुँच गयी। यह हालत उन १५० गाँवों की थी, जहाँ हमने काम शुरू किया था। पहले मैं जब वहाँ गया, तब ८० प्रतिशत लोग खादीधारी थे। आज नगद पैसे मिलने के कारण मिल का सस्ता कपड़ा वहाँ घुस गया और ४० प्रतिशत भी खादीधारी नहीं थे। स्कूल पहले भी नहीं था और अब भी शुरू नहीं हुआ था। ९० प्रतिशत कार्यकर्ता बाहर के थे। उनका कार्यक्रम यानी आठ घण्टा काम और बाकी समय ताश खेलना। स्थानिक कार्यकर्ता तैयार करने की दृष्टि और योजना हमारे पास नहीं। तब हम सेवा कर रहे हैं या व्यापार?

मुझे वहाँ स्थानीय लोगों का उत्थान रत्तीभर भी नहीं दीखा। मैंने अपना विचार उनके सामने रखा, तो उस पर काफी चर्चा हुई। शोषण का अर्थ क्या? आर्थिक दृष्टि से शोषण या पैसे का दुरुपयोग करने से होनेवाला शोषण? ऐसे शोषण के पाप में इन पैसे बाँटनेवालों का कितना हिस्सा है? आदि कई मुद्दों पर चर्चा हुई। लेकिन उससे मेरा समाधान नहीं हुआ।

फिर मैं महाराष्ट्र में आया। तब महाराष्ट्र कांग्रेस का पुनःसंगठन हो रहा था। कांग्रेस की ओर से रचनात्मक काम करने के लिए चार सेक्रेटरियों में से एक मैं नियुक्त किया गया। अगले छह महीने मैं इसी काम के लिए घूमता रहा। लेकिन श्री जाजूजी, घोत्रेजी और अनेक मित्रों ने बराबर आग्रह किया कि रचनात्मक कार्य करना हो, तो महाराष्ट्र

चरखा-संघ की ओर से ही करना चाहिए। तब ५ जनवरी '३५ को मैं महाराष्ट्र चरखा-संघ के सेक्रेटरी के नाते वर्धा लौट आया।

वर्धा आया, तो श्री धोत्रेजी के यहीं ठहरा। सोचा, जब कि यहाँ स्थायी रूप से रहना है, तब घर की व्यवस्था करूँ। सौ० शरयूताई उर्फ अक्का धोत्रे का स्वभाव अत्यन्त उदार है और मन बहुत साफ—खुला दिल है। दो-तीन दिनों में ही उनके घर में मेरा परायापन समाप्त हो गया। उन्होंने मुझसे कहा : "अलग मकान लेकर आप क्या करेंगे? महीने में २८ दिन तो घूमेंगे ही न? फिर आने पर एक-दो दिन घर साफ करने में और एक दिन बंद करने में लगायेंगे। इसकी अपेक्षा यहीं क्यों नहीं रह जाते? मैंने अपना घर बसाया ही है, ये बच्चे भी सब छोटे हैं, तब तक गृहस्थी के सिवा दूसरा कुछ कर भी नहीं सकती। आप दो-तीन लोग घर में बढ़ ही गये, तो मुझे कोई भार नहीं। खर्च का सारा हिसाब कर आपके हिस्से में आनेवाली रकम बता दूँगी। खाने को ठीक समय पर ही आना होगा और रात में ठीक समय पर पहुँचना होगा आदि किसी भी तरह के बंधन मैं नहीं डालती। फिर भी यदि आपको संकोच होता हो, तो अलग बात है।"

इस प्रार्थना को इनकार करना मेरे लिए संभव ही न था। इससे पहले मैं बहुत अजीब आदमी था। विद्यार्थी-जीवन से ही मेरा कोई विशेष घरबार तो था ही नहीं। हरिभाऊ फाटक के कारण से ब्रह्मचारी बने रहने का निश्चय किया

था। अतः स्त्रियों के संबंध में बहुत संकोच और अलिप्तता के साथ ही रहा करता। 'प्राण भी चले जायँ, पर एकान्त में स्त्रियों से बोलना नहीं चाहिए'—समर्थ रामदासजी के इस वाक्य का मैं अक्षरशः पालन किया करता।

अप्पासाहब पटवर्धन के साथ जेल में एक बार चर्चा हुई। 'समाज में ५० प्रतिशत स्त्रियाँ हैं, तब क्या उनकी सेवा का विचार करना आवश्यक नहीं ?' उनका यह विचार मुझे जँच गया और स्त्रियों से न बोलने का अपना व्रत मैंने छोड़ना चाहा। पर वह केवल विचार में ही रहा, प्रत्यक्ष में मेरा संकोच अभी तक दूर नहीं हुआ था। लेकिन अक्का धोत्रे ने तो मुझे एक-दो महीने में ही पूरा मनुष्य बना दिया। रोज नहाना, रोज कपड़े धोना, समय पर दो वक्त खाना आदि कई आदतें उन्होंने ही मुझे लगायीं। उनके छोटे बच्चे मेरे साथ खेलते। मुझसे कहानी सुनने की जिद करते। मैं धोत्रे-परिवार में पूरी तरह घुल-मिल गया। वहीं घर की कीमत का पता लगा। बढ़िया भोजन कराना, हरएक की पसंद-नापसंद का खयाल रखना, प्रत्येक का ध्यान रखना आदि सभी गुण अक्का में थे। मेरा भोजन तो दोनों पंगतों में चलता। भोजन क्या था ? एक प्रकार से गप्पबाजी का अड्डा ही। मेरी रहन-सहन में काफी नियमितता आ गयी। रोज मैं केवल तीन रोटियाँ खाया करता। यह एक प्रकार से मेरा नियम ही बन गया था। एक बार गप-शप में तीन के बदले सात रोटियाँ अक्का ने परोसीं। खा चुकने पर सब हँसने लगे। मैंने कारण

पूछा, तो अक्का ने कहा : "मैंने यह देख लिया कि आपको अपने नियम का कितना खयाल रहता है। अब मैं समझ गयी कि आपके भी नियमों का पालन मुझे ही करना होगा।"

स्त्रियों से बोलने की कला सीखने से एक बड़ा लाभ हुआ। चरखा-संघ के कार्यकर्ताओं के घरों से मेरा संबंध बढ़ने लगा। आगे चलकर मैंने यह नियम-सा बना लिया कि कहीं भी काम से जाऊँ, तो कार्यकर्ता के घर में ही ठहरूँ। इससे हरएक का जीवन मैं नजदीक से देख सका। उन घरों की स्त्रियाँ, बच्चे, पुरुष सबसे मेरी जान-पहचान होने लगी। उन दिनों चरखा-संघ का साम्राज्य बढ़ा-चढ़ा हुआ था। कइयों का मत था कि साधारण कार्यकर्ता से इतना घुल-मिल जाना उचित नहीं। शुरू-शुरू में जब मैं आया, तब धोत्रेजी ही मेरे सलाहकार थे।

जाजूजी और कृष्णदास भाई महाराष्ट्र चरखा-संघ के प्रमुख थे। मन में कुछ-कुछ यह खटक रहा था कि उनसे कैसे निभेगी ? लेकिन धोत्रेजी ने मुझसे कहा कि "एक साल यहाँ के काम की पूरी कल्पना हो जाने तक आगे बढ़कर कुछ भी मत करना।" सेक्रेटरी के रूप में मैं पहले-पहल आया था। आफिस के काम की मुझे आदत नहीं थी। धीरे-धीरे वह भी होने लगी। खादी का धंधा कैसे चलाया जाय, इसकी रूपरेखा मेरी समझ में नहीं आती थी। लेकिन जाजूजी और कृष्णदास भाई दोनों का मत था कि महाराष्ट्र के खादी-कार्यकर्ताओं के साथ संबंध रखने की दृष्टि से सेक्रेटरी मराठी

ही होना चाहिए, इसीलिए मुझे वहाँ स्थायी बनाने की दृष्टि से वे भरपूर कोशिश करते रहे।

आफिस में कई मराठी कार्यकर्ता थे, जो मुझसे पहले आये हुए थे। उन सबको छोड़ मुझे सेक्रेटरी बनाया गया, इससे एकाएक विरोध शुरू हुआ। मैं देखता रहा कि शुरू-शुरू में कई दिनों तक आफिस और दूसरे कामों में भी मेरे साथ काफी विरोध हुआ करता। परंतु जाजूजी और कृष्ण-दास भाई की भूमिका दृढ़ थी। चार-छह महीनों बाद विरोध थोड़ा कम हुआ। व्यापार और व्यवस्था का शिक्षण कृष्णदास भाई ने दिया। उस समय वे ही मेरे गुरु थे। कृष्णदास भाई में एक बड़ा गुण यह है कि उस समय उन्होंने मुझे गुरु के रूप में सब सिखाया, पर थोड़े ही समय के बाद मेरे सहायक के रूप में भी काम किया। लेकिन किसी भी काम में ऊँच-नीच या मानापमान की तनिक भी भावना उनमें नहीं है।

१९३६ में केशव देवधर मेरे आफिस में आये। गुजरात विद्यापीठ में वे कताई-शिक्षक थे और नमक-सत्याग्रह में मोर्चे पर थे। '३६ में वे मेरे सहायक बनकर आये। मेरा सारा पत्र-व्यवहार वे ही देखते। उत्तर भी वे ही देते। यही नहीं, बल्कि मेरी भाषा में ही उत्तर देते। लेकिन मुझे लगा कि मेरे सहायक के रूप में ही वे रहें, तो उनके स्वतंत्र पुरुषार्थ के विकास को मौका नहीं मिलेगा। इसके बाद वे कृष्णदास भाई के पास गये। यांत्रिक विषय में उन्होंने अच्छी प्रगति

की ग्रौर ग्र० भा० चरखा-संघ के मुख्य विद्यालय के प्राचार्य वने। इससे मेरे ग्राफिस के काम में कुछ दिक्कत भी ग्रायी। पर मैं मानता हूँ, काम के बारे में सोचने के साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति का विचार ग्रौर विकास किस प्रकार होगा। सभी कार्यकर्ताग्रों के बारे में सोचते समय यह दृष्टि मेरे सामने रहती है। इसके लिए व्यक्तिगत संबंध बढ़ाना चाहिए।

• • •

खादी-काम

: ४ :

उन दिनों महाराष्ट्र चरखा-संघ में लगभग दो सौ कार्यकर्ता थे। सभीके जीवन में मित्र और मार्गदर्शक के नाते मुझे प्रवेश मिला था। कई लोग सोचते थे कि इस तरह के व्यवहार और हेल-मेल से सेक्रेटरी के नाते आदर कम हो जाता है। इससे संघटन भी ढीला होता है। कइयों को लगता था कि इस तरह कार्यकर्ताओं को नाहक मुँह लगा लेने और उनकी राय पूछने से सभी कामों पर बुरा असर पड़ता है। लेकिन कम-से-कम मैं ऐसा नहीं मानता।

दो-चार लोगों के ही हाथ में सारी बागडोर रहे और बीसों साल एक ही आदमी के हाथ में अधिकार बना रहे, यह भी एक तरह की सामन्तशाही ही है। जिम्मेदारी सिर पर लादे बिना कार्यकर्ता की शक्ति और आत्म-विश्वास नहीं बढ़ेगा। कुछ लोगों का आक्षेप है कि इसका कई लोग दुरुपयोग कर लेते हैं। मैं इसे मान भी लेता हूँ, पर यह जरूर कहूँगा कि सिर्फ हुकुम के बन्दों की सेना तैयार करने के बदले, विचारपूर्वक आँख खोलकर काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को तैयार करना हो, तो मेरी ही नीति अपनानी होगी। यदि आँखें खोलकर काम न किया जाय, तो केवल एक धन्धे के रूप में रचनात्मक कार्य का कोई मतलब ही नहीं।

फैजपुर कांग्रेस में मैंने महाराष्ट्र चरखा-संघ के सभी

कार्यकर्ताओं का सम्मेलन बुलाया। मेरी राय में रचनात्मक कार्यकर्ताओं को राजनीति समझनी चाहिए और उसमें रुचि भी लेनी चाहिए। राजनैतिक दृष्टि से समाज-निर्माण का लक्ष्य निश्चित किये बिना केवल रचनात्मक कार्य करना निरर्थक है, ढोंग है। राजनीति में पड़े लोगों के जीवन की कोई सुरक्षा नहीं। रचनात्मक काम में भले ही कम हो, पर यह सुरक्षा थी। रचनात्मक कार्य और राजनीति दोनों एक ही फौज के दो अंग हैं, यह माना जाय, तो इन दोनों जीवन में इतना अन्तर उचित नहीं। रचनात्मक कार्यकर्ता दो-तीन साल में एक बार राजनीति में उतरें। यह मानना होगा कि जो लोग जीवन का कोई आधार न रहते हुए समाज का काम करते हैं, उनकी और हमारी भूमिका एक ही है। अपने जीवन-स्तर को उनसे अधिक कभी ऊँचा चढ़ने नहीं देना चाहिए। जितना पैसा मिले, सब पर हमारा ही हक है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। राजनीति और रचनात्मक कार्यकर्ताओं के बीच इस प्रकार का मेल-जोल होने लगे, तभी रचनात्मक काम को गति मिलेगी और कुछ मतलब रहेगा। अन्यथा रचनात्मक कार्य का अर्थ तराजू-बांट लेकर बैठने के सिवा कुछ नहीं रहेगा। बाहर के राजनैतिक कार्यकर्ता हमारे समान-धर्मी हैं, इस भावना से ही हमारी सभी संस्थाओं का काम चलना चाहिए। हम लोकशाही में विश्वास तो करते हैं, पर उसका अमल संस्थाओं में भी होना चाहिए। सेक्रेटरी का काम सँभाल सकने की योग्यता अनेक में पैदा होनी चाहिए। कार्य-

कर्ताओं को अपना मत प्रदर्शित करने का मौका मिलना चाहिए। कार्यकर्ताओं के वेतन की विषमता कम होनी चाहिए। १९३६ की कांग्रेस गाँव में हुई थी। मैंने तय किया कि अपना दफ्तर भी गाँव में ले जाना चाहिए।

१९३७ में वर्धा से दफ्तर उठाकर मूल ले गया। घास की झोपड़ी में काम शुरू हुआ। कार्यकर्ता वहाँ साथ-साथ रहने लगे। वहाँ खादी-विद्यालय भी आरम्भ हुआ। दो-तीन साल मैंने विद्यालय चलाया। दो-ढाई सौ कार्यकर्ता तैयार हुए। इस विद्यालय में मैंने गांधीवाद के बारे में बहुत पढ़ाया। इसका उन लड़कों को कितना फायदा हुआ, यह मैं नहीं जानता। लेकिन मैं स्वयं गांधीवाद और अर्थशास्त्र का काफी चिन्तन कर पाया। गांधीवाद के बारे में तात्त्विक निष्ठा तैयार होने लगी। हृदय तक वह पहुँच गयी हो, सो बात नहीं। पूरी तरह जँच गयी हो, यह भी नहीं; लेकिन इसमें सन्देह नहीं रहा कि यह भी एक स्वतंत्र विचार है और समाज-जीवन में इसका भी एक स्थान है।

इस सारे जीवन में मैंने एक नियम का ठीक-ठीक पालन किया। स्वास्थ्य को ठीक सँभालने की दृष्टि से साल में डेढ़ महीने मैं प्रवास नहीं करता था। इस अवधि में रोज दो मील खूब दौड़ लगाना और भरपूर कसरत करना मेरा कार्यक्रम था। शरीर की इतनी ही चिन्ता सालभर के लिए पर्याप्त थी। मूल में मलेरिया अधिक है। अतः कार्यकर्ता एतराज करते थे। मैंने पानी उबालकर पीने और कुनैन लेने जैसे

सामान्य इलाज शुरू किये। लेकिन मलेरिया के डर से शहर में कैसे जाया जाय? क्या मूल में रहनेवाले मनुष्य नहीं? पर हमारे कार्यकर्ता इस ढंग से सोचते ही नहीं। उनमें समाज के साथ एकरूप होने की वृत्ति नहीं है। इसी कारण हमारी सेवा-वृत्ति पंगु हो जाती है। हमारे बच्चों को शिक्षण चाहिए, अच्छा संस्कार चाहिए, लेकिन दूसरों के बच्चों को क्या वे नहीं चाहिए? हमें वेतन, पेंशन, छुट्टी सभी कुछ आवश्यक है, तो क्या हम दूसरों को कम वेतन लेने को कह सकते हैं? अगर खादी-कार्यकर्ता की ऐसी मनोवृत्ति हो, तो वे क्रांति के वाहक कैसे बन सकेंगे? अतः हमें अपने काम की ये मर्यादाएँ स्पष्ट पहचाननी चाहिए। शुष्क रचनात्मक कार्य क्रांति के लिए सहायक हो सकता है, ऐसा मुझे नहीं लगता। उन दिनों तो क्रान्ति का अर्थ विदेशी हुकूमत के खिलाफ लड़ना था। लेकिन इसके आगे की क्रांति सामाजिक और आर्थिक है। कार्यकर्ताओं की इस मनोवृत्ति के कारण दलित वर्ग की क्रांति हो सकेगी, इसका मुझे भरोसा नहीं।

चरखा-संघ का काम ४ लाख से २५ लाख तक पहुँच गया था। कागजनगर के पास 'रेबना' गाँव में हमारा एक केंद्र था। वहाँ के हरिजन कताई और बुनाई दोनों काम करते थे। महीने में उनका भोजन-खर्च एक रुपये से ज्यादा नहीं होता था। दिनभर ज्वार की राब बनाकर पीते रहते थे। यही उनका आहार था। मैंने यह प्रयोग करके देखा कि भरपेट खाने को देने से उनका काम बढ़ता

है या नहीं। घर के बाल-बच्चों सहित कुछ परिवार को भरपेट खिलाया। सदियों की भूख उन्होंने मिटा ली। शुरू-शुरू में यह खयाल रखना पड़ता था कि कहीं ये खा-खाकर बीमार न पड़ जायँ। लेकिन बाद में उनका काम बढ़ा। महीने में १५ से २५ रुपये तक का काम होने लगा। कुछ कार्यकर्ताओं पर भी मैंने यह प्रयोग किया। दूध देने या आहार में सुधार करने से उनकी स्मरण-शक्ति और काम बढ़े हैं।

१६४० में खादी का काम चोटी तक पहुँच गया था। लेकिन खादी-काम में 'जीवन-वेतन' की एक मर्यादा के बारे में कुछ भी नहीं सोचा जा रहा था। आठ घण्टे के काम की मजदूरी डेढ़ आना होती थी और हम खादी को मिल के कपड़े से सस्ती बेचने की ताक में थे। अतः हम यही देखते कि डेढ़ आने को कम कर तीन पैसे कैसे किया जाय।

अच्छा हुआ कि गांधीजी ने हमारी आँखें खोल दीं। वे कहते : "स्वयंपूर्ण ग्राम के विनिमय-व्यवहार में खादी कितनी ही सस्ती या महँगी हो, तो भी वहाँ शोषण का सवाल नहीं आता। लेकिन खादी का व्यापार करते हुए जब हम शहर में खादी बेचने जाते हैं, तो आठ घण्टे के काम का बदला कम-से-कम आठ आने तो मिलना चाहिए।" मैं इस विचार से पूरा-पूरा सहमत था। इसीलिए महाराष्ट्र चरखा-संघ ने ही पहले-पहल जीवन-वेतन की दृष्टि से पहला कदम उठाया। आठ घण्टे के काम की मजदूरी ५-६ आने तो हो ही, इस दृष्टि से खादी की दरें निश्चित की गयीं।

नतीजा यह हुआ कि महाराष्ट्र की खादी का भाव ढाई गुना बढ़ गया और खादी की गाँठें पड़ी रह गयीं। बिक्री घटी और दो साल के बाद हमें कुछ समझौता करना पड़ा। दूसरे प्रांत के लोगों ने गांधीजी के आग्रह से भाव थोड़ा बढ़ाया और हमने थोड़ा घटाया और तब खादी-काम फिर शुरू हुआ। इस प्रयत्न में उन दिनों खादी-काम का दिनभर का जीवन-वेतन तीन आना तय किया गया था।

भाव-वृद्धि के इस प्रयोग से मुझे कई विचित्र अनुभव मिले। इस प्रयोग के कारण समाज की कई समस्याएँ भी मेरे सामने खड़ी हुईं। पहले-पहल मजदूरी बढ़ायी। भाव में इतना फर्क किया कि दो आने के बजाय चार आने मिलने लगे। लेकिन लोग आठ के बदले चार ही घण्टे काम करने लगे। गरीबी थी ही, उसकी आदत हो गयी थी। उससे बचने की इच्छा भी नहीं होती थी। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों की इस विशिष्ट मनोवृत्ति का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं है। समाज में उनका स्थान, उनकी आदतें, उनकी रहन-सहन का दर्जा—यह सब कई पीढ़ियों से एक ही साँचे में ढलता चलता आया है। केवल आर्थिक पहलू ही सुधारने से इसमें तुरन्त कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है।

चरखे के काम के बारे में भी मेरे विचार कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे। कम-से-कम आज के भावों में तो कताई स्वतन्त्र उद्योग बन ही नहीं सकता, वह सहायक उद्योग ही बना रह सकेगा। अधिक-से-अधिक १० प्रतिशत लोगों के लिए यह

पूरक धंधा बन सकता है। निचला मध्यम वर्ग और थोड़ी भूमिवाले किसान ही चरखा चलाते हैं। परंपरा से चलाये जाने के कारण कुछ ऊँचे दर्जे के लोग भी चला लेते हैं। लेकिन किसी भी हालत में खेतिहर मजदूर चरखा नहीं चलाते। इसका मतलब यह हुआ कि कुछ विशिष्ट परिस्थिति में ही चरखा चल सकता है। वह परिस्थिति बदली कि चरखे का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। जहाँ कताई की परंपरा नहीं है, वहाँ नये सिरे से उसे चालू करना कठिन है। फिर चरखे से होनेवाला उत्पादन भी नाममात्र का है। जहाँ २५-२५ साल से चरखा चल रहा है, वहाँ कातनेवालों में हम क्या फर्क कर सके हैं ?

खादी बहुत महँगी होने लगी, इसलिए जीवन-वेतन का सिद्धांत भी सफल न हो सका। मेरी पक्की राय थी कि चरखे की उत्पादन-शक्ति में सुधार किये बिना वह नहीं चलेगा। तब हमने दो तकुओंवाला 'मगन चरखा' मूल में शुरू किया। उससे रोज सहज ही ४-५ आने की कमाई हो जाती। उस समय की मजदूरी के लिहाज से, खेतिहर मजदूर को मिलनेवाली मजदूरी की अपेक्षा यह काफी अधिक थी। तब वहाँ के किसान हमारे पास आकर कहने लगे कि कम-से-कम खेती के मौसम में यह चरखा बन्द रखो या मजदूरी कम करो। इस प्रकार का सुधरा चरखा यदि हम देश में फैला सकें, उसका सही उपयोग किया जाय, तो खेतिहर मजदूरों के हाथ में

वैकल्पिक उद्योग देकर खेती की मजदूरी पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा।

आज खेतिहर मजदूरों की मजदूरी में जीवन-वेतन का चाहे जितना कानून बने, लेकिन वैकल्पिक उद्योग दिये बिना वह सफल नहीं हो सकता। 'अम्बर-चरखा' आये, तो क्या वह खेतिहर मजदूरों की शक्ति बढ़ा सकेगा ? यदि यह हो सका, तो क्या खेती करना संभव होगा ? मेरा खयाल है कि खेती को मुख्य धंधा मानकर बाकी सभी वस्तुओं का भाव खेती से संबद्ध रखना चाहिए। आज खेती अन्तिम उद्योग है। उससे भी कम उत्पादन करनेवाले ग्रामोद्योगों को असम्भव मानकर या तो उन्हें छोड़ देना पड़ेगा या उनकी उत्पादन-क्षमता बढ़ानी होगी।

'मूल' और अन्य केन्द्रों में भी मैंने कई शालाएँ खोलीं। चिकित्सागृह खोले, क्योंकि इससे कत्तिनों को थोड़ा-बहुत लाभ मिले। चरखा-संघ की ओर से कत्तिनों के जीवन में सुधार लाने के बहुत प्रयत्न हुए हों, सो बात नहीं। चरखा-संघ नाममात्र के लिए कत्तिनों का संघ होने पर भी इसमें उनका हिस्सा नहीं के बराबर था। इसमें से कताई और बुनाई जाननेवाले कार्यकर्ताओं और खादी को एक धंधे के रूप में सफल कर दिखानेवाले व्यवस्थापकों के एक वर्ग का जरूर निर्माण हुआ। प्रत्यक्ष कातने और बुननेवाले हमारे सार्वजनिक जीवन या राजनैतिक आन्दोलन के साथ समरस नहीं हो सके। यह कार्य क्या सही माने में रचनात्मक है ?

मेरे पास शिक्षण के लिए जो लोग आते, वे अकोला, खामगाँव, नागपुर आदि स्थानों की राष्ट्रीय शाला से आते। राष्ट्रीयता और राजनैतिक विचारों के बहुत-से संस्कार उन्हें पहले ही मिले रहते। लेकिन खादी-काम में आने पर उनकी राजकीय विचारधारा कुण्ठित हो जाती थी। यन्त्रशास्त्र के विशेषज्ञ भी पूँजीवादी मनोवृत्ति के ही बन जाते। आचार और विचार का अन्तर बढ़ता हुआ-सा नजर आता। समाज के अन्याय और दुःखों की हमें इतनी आदत हो गयी है कि उन्हें देखकर हमारे मन में कहीं, कुछ भी अस्वस्थता महसूस नहीं होती।

हरिजनों के सम्बन्ध में मैंने एक बार प्रयोग किया था। मैंने तय किया था कि समाज की तरफ से हरिजनों को जो सुविधाएँ प्राप्त नहीं होतीं, उन्हें हम भी न लें। लेकिन इसे ठीक-ठीक पालते हुए जिन्दा रहना ही दुश्वार हो गया। दूसरा भी एक प्रयोग मुझसे सफल नहीं हो सका। गाँवों में जाकर श्रमजीवी बनने का मुझे बड़ा आकर्षण था। लेकिन जब-जब मैंने यह प्रयोग किया, तब-तब यही अनुभव आता कि ८-१० घंटे शरीर-श्रम करने के बाद विचार-शक्ति क्षीण होती जाती है। आदर्श जीवन और प्रत्यक्ष जीवन में संगति नहीं बैठ पाती। इस प्रकार के कई प्रयोगों में हर बार मुझे पीछे हटना पड़ा।

मेरी आवश्यकताएँ बहुत ही कम हैं। मैंने अपना घर नहीं बसाया। व्यक्तिगत रूप से किसीके पालन-पोषण की

जिम्मेदारी भी मुझ पर नहीं। फिर भी मेरी यह हालत है। गाँववालों और सर्वसाधारण मध्यम वर्ग के लोगों के जीवन में आज जमीन-आसमान का अन्तर है। इस ग्रामीण जीवन तथा समाज के सबसे अधिक दरिद्र स्तर से क्या कभी सही नेतृत्व पैदा हो सकेगा या कुछ आर्थिक स्थिति सुधरने तक इसी तरह चलता रहेगा ?

सप्ताह में जिस काम के जरिये ८-१० आने की मजदूरी बाँटी जा सके, ऐसा खादी-काम चालू रखना उचित है या अनुचित ? इस प्रकार पेट काटकर कताई करते रहना पड़े, यह हमारा दुर्भाग्य है। इन कत्तिनों के श्रम पर हमारी संस्थाओं को आधारित रखना सौभाग्य की बात है या नष्ट कर देना ? जिसके पास समय है, वह इस पूरक धन्धे के रूप में इसे अपनाये, यह अलग बात है। लेकिन पास में दूसरा कोई धन्धा नहीं, इसलिए केवल चरखा चलाते-चलाते, पसीना बहाकर भी चार-छह आने पर कोई मनुष्य जीवित रहे, यह मेरे लिए आनन्द की बात नहीं है। ऐसा काम ही क्यों चलायें ? यह समाज की प्रकृति है या विकृति ? मुझे लगता है कि ऐसा काम करते रहने के बजाय ये विद्रोह कर दें, यही अच्छा है। मैं इस पर लगातार विचार कर रहा हूँ। अभी तक मुझे इसका हल नहीं मिला है।

१९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह शुरू हुआ। साधारण नियम यह था कि चरखा-संघ के लोग उसमें भाग न लें। श्री शरयूताई धोत्रे और दादा धर्माधिकारी की पत्नी को

व्यक्तिगत सत्याग्रह में जाने की अनुमति गांधीजी ने दी थी। गांधीजी ने उनसे कहा था कि "वर्धा तहसील में घूमो, महीने में तीन दिन से अधिक घर न आओ।" अस्सी दिनों तक ये बहनें घूमती रहीं। उनके अनुभव आज भी मुझे विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। क्योंकि ये घर-घर जातीं और चूल्हे तक पहुँचतीं। वर्धा तहसील में २० साल से काम चलता था। लेकिन उन बीस सालों में हमें जो जानकारी नहीं मिल सकी थी, वह इन लोगों ने दो महीने में प्राप्त कर ली। मैं रचनात्मक कार्यकर्ताओं से अक्सर कहता रहता कि समाज में ५० प्रतिशत की संख्या में विद्यमान स्त्रियों तक जा पहुँचना पुरुषों के लिए संभव न हो, तो इस काम के लिए स्त्रियों को ही आगे आना चाहिए। कातनेवाली सभी स्त्रियाँ और सूत खरीद करनेवाले केवल पुरुष—इसके बजाय यह काम भी स्त्रियाँ ही क्यों न करें ? कई कार्यकर्ताओं की स्त्रियों को मैंने इस काम के लिए तैयार किया। लेकिन अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की दृष्टि से काम करना एक बात है और कत्तिनों के साथ एकरूप होना दूसरी बात। दूसरी बात करीब-करीब लुप्त ही है।

० ० ०

बयालीस की क्रांति में

: ५ :

'४२ की क्रांति के पहले मेरे दिमाग में ऐसे अनेक विचार घूमते रहते थे। आन्दोलन से पहले चरखा-संघ की सभा हुई। तब वल्लभभाई ने कहा था : "अभी तक मैं यही कहता रहा कि इन सभी संस्थाओं को सँभाले रखो। लेकिन अब मैं कहता हूँ कि इनकी भी आहुति दे दो। इससे हम बाहर निकल पड़े, तो संस्था को फिर से निर्माण किया जा सकता है। अपनी सारी शक्ति लगाकर तथा जान हथेली पर लेकर स्वातन्त्र्य का यह अन्तिम युद्ध हमें लड़ना है।" लेकिन इस युद्ध में हमें वास्तव में क्या करना है, इसका स्पष्ट दर्शन मुझे नहीं हुआ था। हमारी कल्पना थी कि गांधीजी मार्ग-दर्शन करेंगे। लेकिन अचानक ही गिरफ्तारियाँ शुरू हो गयीं और गांधीजी के मन में क्या था, इसकी किसीको कल्पना भी न हो पायी। हम पर 'हरिजन' में प्रकाशित किशोरलाल भाई के लेख और अच्युतराव, जयप्रकाश आदि के विचारों का प्रभाव जमा हुआ था।

'करो या मरो'—यह गांधीजी का अन्तिम संदेश था। तब यह साफ ही था कि जेल भरते जाने में कोई मतलब नहीं है। यह भी सीधी-सी बात थी कि राज्यतंत्र को बन्द करना है। इसका मतलब हमने यही समझा कि सरकारी दफ्तर,

पुलिस, थाने और खासकर फौज का आवागमन बन्द कर देना चाहिए। आशा होने लगी थी कि गांधीजी की पुकार सुनकर प्रचण्ड जनशक्ति खड़ी होगी, सरकारी नौकर अपना काम छोड़ हमारी तरफ आ खड़े होंगे। पुलिस के लोग अपनी सत्ता त्याग आजादी के सिपाही बन जायँगे और इसी वल पर आखिरी घड़ी में फौज भी अपने हथियार नीचे रख देगी। गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद अच्युतराव, जयप्रकाश आदि के हाथ में आन्दोलन की बागडोर थी और वे इस दिशा में प्रयत्नशील भी थे। अपेक्षा यह थी कि चार-छह महीने के अन्दर-अन्दर यह सारा हो जायगा।

अक्तूबर तक मैं वर्धा रहा। गांधीजी की गिरफ्तारी के साथ ही जनता की ओर से जिस उग्रता का प्रदर्शन हुआ, उसका अधिक लाभ हम लोग नहीं उठा सके। और शासन-यंत्र को बन्द करने की दृष्टि से तैयारी होने के बाद जनता को इतने जोर से उभाड़ना हमारे बस की बात नहीं रही। इस हालत में मैं बम्बई आया और अच्युतरावजी से सम्पर्क स्थापित किया।

शासन-यन्त्र में अड़चनें डालने की दिशा में बहुत तेज दौड़धूप चल रही थी। लेकिन हमारे पास इस काम के लायक लोग नहीं थे। जनता में इस आन्दोलन के प्रति भरपूर सहानुभूति थी और इसीलिए आतंकवादी कारनामों के लिए जरूरी माल और पैसा भी मिलता जाता था। लेकिन उसका उपयोग करने की ताकत नहीं थी। मैं उन दिनों 'सुन्दरलाल'

नाम से खादी-भंडार में रहता था और स्फोटक पदार्थ मँगाने-पहुँचाने आदि काफी जिम्मेदारी के काम में लगा था।

खादी-भंडार में आमतौर पर मैं किसीसे मिलता नहीं था। सभी खास व्यक्तियों से मिलने के लिए कम खतरे का स्थान था, चौपाटी। खादी-भंडार में मैं सोता भी नहीं था। सुन्दरलाल के पास संदेश पहुँचानेभर का वह पता था। बहुत दिनों तक सब कुछ व्यवस्थित चलता रहा। लेकिन आगे चलकर कुछ जालसाज लोगों को हमारे दल में घुसाने के काम में पुलिस सफल हो गयी। पता नहीं, कैसे क्या हुआ—डिपो का काम देखनेवाला मेरा मित्र गिरफ्तार किया गया। उसे सुबह तड़के पकड़ा गया और एक घण्टे के अन्दर-अन्दर मेरे पास खबर आ पहुँची। वह लड़का एम० ए० था और लन्दन में भी रहा था। बारूद आदि के संग्रह के स्थान का उसे पता था। इसलिए यह साफ ही था कि पुलिस उसे सतायेगी। फिर भी मैंने सोचा कि वह किसी प्रकार शाम तक हिम्मत बाँधे ही रहेगा और तब तक हम बहुत सारा सामान धीरे-धीरे हटा सकेंगे।

मैंने अपने साथ एक और सहायक ले लिया। वह भी युवक था। हम सुबह जल्दी वहाँ जा पहुँचे। लगभग चालीस हजार रुपयों का माल रहा होगा। हम अन्दर गये और बाहर से पुलिस ने किवाड में ताला लगा दिया। मेरे साथ का लड़का डर के मारे रोने लगा। लेकिन उसे कहने-समझाने का थोड़ा समय मुझे मिल गया। 'सुन्दरलाल' का काल्पनिक

वर्णन मैंने उसे बताया। उसे मैंने पढ़ाया कि "पुलिस तुझे कुछ भी करे, तू इतना ही कहता जा कि वह मुझे अच्युतरावजी के यहाँ मिला था और उसने यहाँ मुझे मिलने के लिए बुलाया। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं जानता।"

मैं पकड़ा गया। पूछने पर मैंने अपना नाम अण्णा सहस्रबुद्धे कहा। 'सुन्दरलाल' के सम्बन्ध में मैंने भी अक्षरशः वही बात कही, जिससे सुन्दरलाल का गुल खिल नहीं पाया। मैंने अपना सही नाम बता दिया, इसलिए या मैं ज्यादा डरता नहीं, इसलिए—पता नहीं, किस कारण से—मुझे पुलिस की किसी भी तरह की मारपीट नहीं सहनी पड़ी। चूँकि मैं अन्त तक यही कहता रहा कि मुझे उस डिपो की कोई बात मालूम नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष आतंकवादी कारनामों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ना पुलिस के लिए असंभव ही रहा। शुरू-शुरू में पुलिस खूब धमकाती रही। "फाँसी पर चढ़ा देंगे, कोड़े लगाकर चाहे जितनी तकलीफ देना हमारे हाथ में है", ऐसी-ऐसी धमकियाँ सुनकर मुझे हँसी ही आती!

मैं उनसे कहता: "फाँसी पर चढ़ाना ही हो, तो जल्दी चढ़ाओ और २६ जनवरी या ऐसा ही कोई अच्छा मुहूर्त देखकर चढ़ाओ! उससे आन्दोलन का फायदा ही होगा।"

मेरे साथ के लड़के को डिपो के मामले में फँसाने का एक ही सबूत था। वह लड़का उस जगह पर सोया करता था। वहाँ उसके 'लाँड्री-मार्क' के कुछ कपड़े पुलिस के हाथ लग गये थे। फिर भी इस लड़के के पिता खासे बड़े ओहदे पर

थे, इसलिए उन्होंने कोशिश कर उन्हें खतम कर दिया। नहीं तो उस पर कुछ-न-कुछ आरोप सिद्ध किया जा सकता था। 'कैपिटल बम-केस' और 'महाराष्ट्र कान्स्पेरसी', दोनों में मेरा नाम था। मुझे पकड़ने के लिए इनाम घोषित किया गया था। दो-चार रेल-गाड़ियाँ उलटी थीं। उनमें भी लोगों ने मेरा नाम जोड़ दिया था। लेकिन इनमें से एक भी साबित न हो सका। मैं नजरबन्द के नाते ही जेल में रहा। जनवरी '४३ से नवम्बर '४५ तक मैं जेल में रहा।

जनवरी के बाद आन्दोलन का जोर वस्तुतः कुछ कम पड़ गया। सरकार की चिकोटी भरने के सिवा कुछ करने की हमारी शक्ति नहीं थी। सरकारी नौकरी छोड़ बाहर आये हुए लोग भी अब अँगुलियों पर गिनने लायक थे। आतंक-वादी आन्दोलन के योग्य यन्त्र-तन्त्र-विशारदों की हमारे पास कमी थी। अवश्य ही 'क्रांति' की कल्पना से प्रभावित कई युवक हमारी ओर आकृष्ट हुए थे। लेकिन भूमिगत होकर यह सारी लड़ाई लड़ने जैसी मनोवृत्ति और दक्षता उनमें नहीं थी। ऐसे कार्यकर्ता तैयार करने के लिए पर्याप्त समय भी नहीं मिला। इसलिए यह तय था कि आन्दोलन दब जायगा।

जेल में अपने पिछले कामों पर विचार करने का मुझे पुनः एक बार मौका मिला। चरखा-संघ के अपने काम का मैंने पुनः एक बार सिंहावलोकन किया। हम जो काम कर रहे हैं, उसमें प्रत्यक्ष जनता को कार्य-प्रवण करने की कोई गुंजाइश नहीं, यह सिद्ध हुआ। फिर मैं पुनः इस निश्चय पर पहुँचा

कि इससे जनता की शक्ति जाग्रत करने के बदले मध्यम वर्ग के इने-गिने कुछ विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं का एक गुट ही तैयार हो सकता है, और कुछ नहीं। मैं सोचने लगा कि क्या इसका उपाय 'सहकारी-आन्दोलन' हो सकता है ? क्या काम करनेवालों में से ही विशेषज्ञ नेता पैदा हो सकेंगे ?

यरवदा-जेल में मराठी की ३-४ कक्षा पढ़े हुए छोटे-छोटे लड़के आये थे। उन पर संस्कार डालने थे। मैंने कुछ प्रयोग किये। अखबार पढ़ने की कला सिखाने का शास्त्र तैयार किया। अक्सर अटकनेवाले शब्दों की सूची बनायी। आज अपने अखबारों में कई अंग्रेजी शब्द या उनके पर्यायवाची, पर उनसे भी अधिक दुर्बोध संस्कृत-प्रचुर शब्द मिलते हैं। कई संस्थाओं के नाम भी रहते हैं। इन सबके कारण अखबारों के अधिकतर समाचार हम साधारण ग्रामीणों की समझ के परे हो जाते हैं। ऐसे शब्दों की मैंने एक सूची तैयार की और दुनिया का एक नक्शा मँगाकर लड़ाई की सारी खबरें समझाना शुरू किया। अखबार पढ़ना सिखाने का एक कार्यक्रम तय करना चाहिए। यह ग्राम-नेतृत्व तैयार करने की पहली सीढ़ी है।

इस प्रकार के शिविर चलाने के बारे में मैं उन दिनों सोचा करता था। आज के हमारे शिविर बिलकुल गलत पद्धति से चलते हैं। शिविरों में मुँह में जो आये, वही बोलते चले जानेवाले नेताओं को कतई मौका नहीं मिलना चाहिए। राजनीति को भी मौका नहीं देना चाहिए। समाजवाद,

गांधीवाद, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों को आसान तरीके से क्रमबद्ध रीति से सिखाना चाहिए। सामूहिक जीवन की नींव भी यहाँ डालनी चाहिए। सफाई, खेल-कूद आदि की रुचि पैदा कर सकनी चाहिए। शिविर का उद्देश्य यह है कि ग्रामीण धीरे-धीरे पढ़ने लगें, अपनी बुद्धि और ज्ञान स्वयं बढ़ाने की योजना प्राप्त कर सकें। वाचन की मिठास चखाना और उन्हीं-उन्हीं लोगों को फिर-फिर शिविरों में बुलाकर योजनाबद्ध अभ्यासक्रम चलाना आवश्यक है।

मैंने तय किया कि इसके आगे मैं केवल शिविर-संचालन का ही काम करूँ, शैक्षणिक दृष्टि से स्थानिक नेतृत्व निर्माण करने की ओर सारी शक्ति लगाऊँ। राष्ट्र-सेवा-दल के साथ अब तक मेरा सम्पर्क नहीं आया था। जेल से छूटने के बाद मैंने अपने निश्चय के अनुसार सातारा जिले में शिविर चलाना शुरू किया। ७ महीने के अन्दर मैंने ऐसे ५-६ शिविर चलाये। इन्हीं दिनों आचार्य जावडेकर और आचार्य भागवत के साथ मेरा निकट सम्पर्क हुआ। जहाँ तक वैचारिक सम्बन्ध है, श्री शंकररावजी की अपेक्षा श्री जावडेकर ही मुझे ज्यादा नजदीक के लगते थे। हम तीनों में एक प्रकार का अलिखित संकेत भी था। श्री जावडेकर विचार को स्पष्ट करें, विद्वान् और सुशिक्षित लोगों में उसका प्रचार श्री भागवतजी करें और मैं ग्रामीण लोगों तक उसका सार पहुँचाया करूँ। प्रत्येक शिविर में ७५-८० लोग अपने खर्च से आते थे।

परंतु उसी समय मध्यप्रांत कांग्रेस कमेटी ने एक आदेश

जारी किया कि 'उनकी सम्मति के बिना कांग्रेसवालों की तरफ से कहीं भी कोई शिविर न चलाया जाय।' इसी समय राष्ट्र-सेवा-दल का विराट् सम्मेलन सातारा में हुआ। लेकिन कुछ लोगों को इस बारे में शंका थी कि यह शिवशक्ति है या नहीं और इसी कारण इस संघटन को स्वतंत्र रूप से मदद देने के बारे में मतभेद पैदा हुआ। तब राष्ट्र-सेवा-दल के साथ एस० एम०, रावसाहब, भाऊ रानडे आदि के साथ भी मेरा सम्बन्ध आया। राष्ट्र-सेवा-दल और कांग्रेस के बीच झगड़ा शुरू हुआ। मैंने तब से पक्षातीत भूमिका अपनायी है।

नेताओं में इस प्रकार की रस्साकशी शुरू होने के कारण शिविरों का जोर ठंडा पड़ गया और राष्ट्रवादी युवकों की एक बलवत्तर संघटना खड़ी करने की इच्छा टूट गयी। सबके अन्दर अपना-अपना शिविर चलाने की होड़-सी लगी और मैंने तो प्रत्येक के ही शिविर में जाने का तय किया। मेरी आशा थी कि एक पक्षातीत संघटना खड़ी होगी। लेकिन कांग्रेस ने 'एक ही नेता और एक ही पार्टी' का रुख अपनाया। चूंकि यह स्पष्ट होता जा रहा था कि समाजवादी विचारधारा और कांग्रेस में मूलभूत विरोध है, अतः समाजवादी दल की पक्षनिष्ठ भूमिका दिन-ब-दिन अधिक प्रभावशाली होने लगी। राष्ट्र-सेवा-दल एक शैक्षणिक संस्था है और वह पक्षातीत संघटन ही बना रहे, इसका जोरदार प्रयत्न मैंने और श्री रावसाहब पटवर्धन ने किया। लेकिन कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने उसे कांग्रेस के अधीन ही बनाये रखने का आग्रह रखा, इसलिए यह प्रयत्न भी विफल रहा।

१९४७ में महाराष्ट्र सेवा-संघ की स्थापना हुई। गांधीजी की सलाह के अनुसार अ० भा० चरखा-संघ ने खादी के काम के लिए अलग-अलग स्थानिक संस्थाएँ खड़ी करने का निर्णय १९४५ में किया था। तदनुसार महाराष्ट्र में कई जगह जिलेवार सहकारी खादी-भंडार स्थापित किये गये। इसका हेतु यही था कि जगह-जगह स्थानीय लोगों का नेतृत्व पैदा हो। महाराष्ट्र के खादी-काम के लिए सलाहकार और मार्गदर्शक के रूप में 'महाराष्ट्र सेवा-संघ' का निर्माण हुआ था। मूलतः कल्पना यह थी कि लगभग पचास हजार रुपयों की पूँजी जमा की जाय और सहकारी योजना का लाभ उठाकर अलग-अलग स्थानों में ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाय।

इसी समय बम्बई में 'प्रॉविन्शियल इंडस्ट्रियल कोआपरेटिव' की स्थापना हुई और प्रमुखतः हाथ-करघे के बुनकरों का प्रांतव्यापी संघटन निर्माण हुआ। मैं उसका सदस्य बना और महाराष्ट्र में आवश्यक संघटन खड़ा करने का भार मेरे ऊपर आया। इन्हीं दिनों बम्बई राज्य में 'विलेज इण्डस्ट्रीज कमेटी' के नाम से एक अर्ध-सरकारी संस्था स्थापित हुई, जो ग्रामोद्योगों का संघटन करने लगी। उसमें भी मैंने दो-ढाई साल तक खूब हिस्सा लिया। उस समय की ग्रामोद्योग सम्बन्धी कई योजनाएँ मेरी बनायी हुई हैं।

तब मैंने चरखा-संघ में जाने से इनकार किया था। क्योंकि मुझे लग रहा था कि खादी के काम से जन-जागरण

में जाग्रति नहीं होगी। तो भी जाजूजी ने मुझसे पूछा कि "आज आप जो काम कर रहे हैं, वह भी चरखा-संघ का ही पोषक है, तब चरखा-संघ से जीवन-वेतन लेने में हर्ज क्या है?" मैंने उसे इनकार किया था, क्योंकि मैं सोचता था कि महाराष्ट्र की रचनात्मक प्रवृत्ति को पक्षातीत और सजीव स्वरूप दूँ, संशोधनादि के जरिये ग्रामोद्योगों को शास्त्रीय और मजबूत नींव पर खड़ा करूँ और जगह-जगह सहकारी संस्थाएँ खोलकर उनकी मार्फत यह सारा काम करूँ। मैं इसी दृष्टि से महाराष्ट्र में काम कर रहा था।

महाराष्ट्र सेवा-संघ की ओर से १९४८ में अम्बरनाथ में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बुलाया गया। वहाँ यदि सभी कार्यकर्ताओं ने पक्षातीत भूमिका अपनायी होती, तो सम्भव है, महाराष्ट्र के रचनात्मक काम का रूप कुछ और ही हो जाता। लेकिन यह हुआ नहीं और सम्मेलन का कुछ भी परिणाम न निकला, बल्कि रचनात्मक कार्यकर्ता केवल दबते ही जा रहे थे।

दूसरे साल अकोला के पास 'राजूर' में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का दूसरा सम्मेलन हुआ। तब कांग्रेस का अंतर्विरोध चोटी तक पहुँचा हुआ था। महाराष्ट्र के समूचे रचनात्मक कार्य की बागडोर मेरे हाथ में देने का प्रयत्न हुआ। मैंने तब अपनी भूमिका शंकररावजी के पास स्पष्ट की—"मैं पक्षनिष्ठ नहीं। मेरे पास किसी भी प्रकार का निष्ठावाला आये, तो मैं उसे मदद करूँगा ही।" लेकिन शंकररावजी की ओर

मेरी भूमिका में बहुत बड़ा अन्तर था। वे महाराष्ट्र कांग्रेस के जन्मदाता हैं और उसे उन्होंने बढ़ावा दिया है। अतः वे बोले : "कांग्रेस को बनाये रखने के सम्बन्ध में मेरे दिल की तड़प आप क्या जानें, क्योंकि कांग्रेस के लिए आपने कुछ भी किया नहीं है।" मैंने उनकी बात मान ली। लेकिन कांग्रेस चाहे कितनी ही बड़ी हो और उसके लिए उन्होंने भगीरथ जैसा प्रयत्न भी किया हो, तो भी रचनात्मक काम तो पक्षातीत भूमिका में ही चलना चाहिए—यह मेरा मत था और मैं इसी पर अड़ा रहा। इस कशमकश के कारण ही महाराष्ट्र में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का संघटन बढ़ नहीं पाया। महाराष्ट्र सेवा-संघ का काम भी नहीं बढ़ा।

महाराष्ट्र सेवा-संघ के काम के सम्बन्ध में भी मेरे और अन्य संचालकों की दृष्टि में अन्तर था। मुझे ऐसा नहीं लगता कि 'महाराष्ट्रभर में एक केंद्रित संस्था खड़ी कर, हर जगह उसकी शाखाएँ खोल काम चलाया जाय, ऐसे काम में से दो-ढाई सौ कार्यकर्ता संघटित किये जायँ और इस पद्धति से महाराष्ट्र में रचनात्मक काम खड़ा रह सके।' क्योंकि महाराष्ट्र की जाग्रति की भूमिका अलग तरह की है। वहाँ स्थानिक जाग्रति और स्थानिक कार्यकर्ता दोनों हैं। उन्हींके द्वारा छोटी-छोटी संस्थाएँ स्थापित कराकर खादी-उत्पत्ति, सरंजाम कार्यालय और अन्य ग्रामोद्योगों के काम भी इन्हींकी मार्फत चलाये जायँ और महाराष्ट्र सेवा-संघ एक 'भ्रातृ-संघ' के रूप में रहे—यह इच्छा मैं आज भी कर रहा हूँ।

पूछा जा सकता है कि केन्द्रीय संस्था को इस नीति के अपनाने पर पैसे कहाँ से मिलेंगे ? लेकिन इस बारे में मेरी राय साफ है। मैंने कह दिया कि व्यापारी काम का केन्द्रीकरण करने से ईर्ष्या पैदा होती है। अतः ऐसी बड़ी केन्द्रित संस्था बनाये ही क्यों ? मुझे लगता है कि महाराष्ट्र में ऐसी सरंजामशाही न हो कि एक बड़ी संस्था और बाकी सब उसके नौकर ! हर जिले में एक-एक संस्था खड़ी की जाय और वही जिम्मेदारी उठाये। केंद्रीय संस्था यही काम करे कि ऐसी संस्था जगह-जगह खोले, कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण दे और अड़चनों के प्रसंग में मार्गदर्शन करे। ऐसी केंद्रीय संस्था के लिए जगह-जगह खोली जानेवाली संस्थाएँ ही अपनी मर्जी से पैसे देंगी। सभी कामों के केंद्रीकरण से प्रेम के बदले द्वेष ही पैदा होता है। लेकिन मेरे इस मंतव्य के साथ अगर किसीका विरोध नहीं था, तो कोई बहुत हद तक सहमत भी नहीं थे। ● ● ●

सहकारी संस्थाएँ और ग्रामोद्योग : ६ :

प्रॉविन्शियल इण्डस्ट्रियल कोग्रापरेटिव ग्रसोसियेशन के काम के बारे में भी मैंने बहुत चिंतन किया। हमारे यहाँ के धंधे जाति-संस्था पर आधृत हैं, इसलिए औद्योगिक सहकारी संस्थाएँ भी जातिनिष्ठ संस्थाएँ बनती हैं। यह भी हमें मन में स्पष्ट जान लेना चाहिए कि ग्रामोद्योग स्वयंपूर्ण उद्योग हैं या खेती के पूरक-धंधे ? मेरे खयाल में इन्हें खेती के पूरक धंधे ही रखने होंगे। स्वतंत्र धंधों के रूप में इनका संघटन करने का यही अर्थ होगा कि साधारण किसानों के विरुद्ध इन्हें खड़ा करना और इनका शोषक-वर्ग के साथ गठबंधन करा देना। मेरे सामने भारत की आदर्श आर्थिक स्थिति का जो चित्र है, उसमें प्रत्येक ग्राम स्वयंपूर्ण है। जाति और धंधों के आधार पर ऐसे संघटन खड़े करने का मतलब गाँवों का निर्मूलन ही होगा। लड़ाई के दिनों में नित्योपयोगी पदार्थों की कमी पड़ी। कपड़े का भाव एकदम बढ़ गया। ऐसे समय सभी सहकारी संस्थाओं और उनके संचालकों की दृष्टि बहुत संकुचित हो गयी और वे कहने लगे कि 'केवल अनाज सस्ता करो और बाकी सभी चीजों की कीमत खूब बढ़ाओ।' उस समय यह संभव था कि खेती के उत्पादन के अनुपात में बाकी सभी उद्योगों की मजदूरी ठहराते और एक बड़ी तथा स्थायी संघटना खड़ी करते।

मैंने श्री आर० के० पाटील के सामने भी अपना यह विचार रखा था। उन्होंने और मैंने दोनों ने मिलकर कई बुनकर-संस्थाओं के प्रमुखों और कांग्रेस के नेताओं से बात-चीत की। लेकिन चूंकि खूब नफा मिल रहा था, अतः संस्था-संचालकों की इससे आगे सोचने की तैयारी ही नहीं थी। फिर राजनैतिक नेताओं को यह चिंता थी कि ऐसे मौके पर नफा कम करने की बात कहें, तो कल वोट कैसे मिलेंगे? समाज का विचार करने की यदि तैयारी नहीं, तो फिर सहकार किसके लिए? क्या समाज का शोषण करने के लिए या लोगों को लूटनेवालों का एक संगठित वर्ग निर्माण करने के लिए? सहकारी संस्थाओं ने यह मूलभूत सिद्धांत ही टालने का प्रयत्न किया कि खेती की समृद्धि में ही देश की समृद्धि है और खेत समृद्ध होने पर ही आवश्यकता की सभी चीजें मुहैया की जा सकती हैं। यह सहकारी संस्था यदि उस समय मजबूत हो गयी होती, तो १० प्रतिशत कारीगर-वर्ग मिल-मालिकों की बराबरी तक पहुँच जाता।

लेकिन सरकार भावों पर नियंत्रण नहीं कर सकी। भावों के चढ़ाव-उतार के कारण सभी सहकारी संस्थाएँ टूटने लगीं। मुझे नहीं लगता कि स्थानीय नेतृत्व का भी कोई खास निर्माण हुआ हो, क्योंकि सहकारी संस्था में भी सेक्रेटरी या मैनेजर ही प्रमुख रहे। यह सही है कि समग्र अंतिम ध्येय का विचार और हम जिस आर्थिक परिस्थिति को लाने के लिए लड़ रहे हैं, उसकी स्पष्ट कल्पना प्रत्येक कार्यकर्ता नहीं

कर सकेगा। परन्तु सरकार और प्रॉविन्शियल असोसियेशन जैसी वड़ी संस्थाओं को चाहिए कि इस अंतिम ध्येय का विचार करें और उसके अनुसार कार्यक्रम तय करें।

मेरे सामने हिन्दुस्तान के सहकारी संघटन का चित्र यह है कि विविध कार्यकारिणी सहकारी-समितियाँ गाँव के स्तर की हों, वे गाँव की स्वयंपूर्णता के लिए आवश्यक सभी धंधों को स्थापित करें और जो वहाँ तैयार नहीं हो सकता, वही माल बाहर से मँगायें तथा जिनका अधिक उत्पादन वहाँ होता हो, उसे बाहर भेजा करें। इसके लिए इस सहकारी संस्था का आकार तहसील या जिले तक भी फैला हुआ हो। लेकिन आज जिस प्रकार का काम इन सहकारी संस्थाओं की मार्फत चल रहा है, उसे देखकर मेरा निश्चित मत बनता जा रहा है कि वह आगे चलकर प्रतिक्रांतिकारक ही सिद्ध होगा।

आदिवासो सहकारी सोसायटियों के बारे में भी मेरी यही धारणा है। बम्बई-राज्य की आदिवासी सहकारी-सोसायटियाँ आदर्श मानी जाती हैं। ये सोसायटियाँ लाखों रुपये का नफा-नुकसान करती रहती हैं। लेकिन लाखों रुपयों का नफा-नुकसान करके भी आज आदिवासियों में क्या परिवर्तन हुआ है? उनकी बुद्धि-शक्ति के अनुसार ये सोसायटियाँ नहीं बनतीं। वास्तव में भारत के सभी जंगल सरकारी हैं। उनका राष्ट्रीकरण हुआ ही है। फिर जंगल के उत्पादनों में भावों के घटाने-बढ़ाने की जरूरत क्या है? सरकार को इनके भावों

को नियंत्रित करना चाहिए। इसकी स्पर्धा मिटनी चाहिए और आदिवासियों को जीवन-वेतन दिया जाना चाहिए। इसमें भाव की घटा-बढ़ी या स्पर्धा का प्रश्न ही नहीं रहना चाहिए। आदिवासियों के नाम पर आज जो धंधे चल रहे हैं, उन्हें सँभालने की योग्यता उनमें नहीं है। लाखों रुपयों का व्यवहार आदिवासियों का अँगूठा-निशान लेकर किया जा रहा है। याने सभी सेक्रेटरी बाहर के! मुझे तो इसमें सहकारी आंदोलन का गौरव कहीं नहीं दीखता। लोग कहते हैं कि मैं एकदम ध्येयवादी अपेक्षा रखता हूँ। मैं भी यह नहीं मानता कि सब कुछ एकदम हो जायगा। लेकिन मुझे लगता है कि यह मूलभूत विचार स्पष्ट होना चाहिए और कार्यकर्ताओं के सामने स्पष्ट रूप से यह विचार रखना चाहिए।

अप्रैल १९४८ में पूना के पास 'मांजरी' गाँव में सामूहिक सहकारी खेती-संघ की स्थापना हुई। कृषि-उद्योग के बारे में मैं कई दिनों तक सोचता रहा। मध्यम-वर्ग के आदमी के जीवन के लिए आज डेढ़ सौ रुपयों की जरूरत है। आज खुश्की खेती में चार आने और तरी की जमीन में एक रुपया मजदूरी लेकर काम करने को कोई मजदूर तैयार नहीं होता। इससे अधिक पैसा देना हो, तो पैसे की फसल (कमर्शियल क्राप) उपजाकर खेती को पूंजीप्रधान उद्योग बनाना होगा। मजदूर लगाकर खेती करने की बात मेरे सिद्धांत में तो बैठती ही नहीं। लेकिन व्यापारिक फसल उपजाकर मजदूर न लगाकर प्रतिमनुष्य डेढ़-दो हजार का वार्षिक उत्पादन

क्या कभी किया जा सकेगा? यह संभव होगा, तभी सुशिक्षित वर्ग खेती की ओर झुक सकेगा। मांजरी में सहकारी खेती की स्थापना श्री घुले पाटील की मदद से हुई। पहले नहर के कारण इस जमीन में काफी नमी आ गयी थी। १९२६-३३ तक सरकार ने जमीन के अन्दर ड्रेन लगवाये और पानी को पूरी तरह नितरवाकर उसे सुधारा। उसके बाद सरकार इस जमीन को वार्षिक नीलाम से देने लगी। पूना के कुछ लोग उसे नीलाम में लेते और मांजरी के किसान उसे पुनः दुय्यम लगान (शिकमी) पर लेकर उस पर खेती करते थे।

मांजरी के घुले पाटील के मित्रों और रामभाऊ तुपे जैसे सेवा-दल के युवकों के आग्रह से मैं इस सोसायटी की ओर ध्यान देने लगा। उस समय सरकारी अधिकारी सज्जन मिल गये। इस कारण सरकार ने नीलाम बन्द कर अन्-रजिस्टर्ड सोसायटियों को यह जमीन दी। लेकिन सामने कई अड़चनें थीं। मुख्य अड़चन, पैसे की और दूसरी, अच्छे सेक्रेटरी प्राप्त करने की। स्थानिक झगड़े, राजनीति और सोसायटी बनने के कारण जिन्हें जमीन नहीं मिली, उनका रोष आदि कई संकट थे ही।

३० जनवरी '४८ को गांधीजी की हत्या हुई और ब्राह्मण-विरोधी वातावरण की मार यहाँ भी पड़ी। मांजरी के काम के लिए मुझे मदद करनेवाले कई मित्रों की भी राय उस समय सोसायटी को खतम कर देने की बनी। लेकिन सोसायटी

बन्द करने से ब्राह्मण-द्वेष थोड़े ही बन्द होता। इसी समय एक अत्यन्त परिश्रमी और चतुर कार्यकर्ता श्री मायदेव मुझे सेक्रेटरी मिल गये। सरकार की ओर से मैनेजर के वेतन की रकम और बीज के लिए कर्ज भी मिला। मायदेवजी के सोसायटी की तरफ ध्यान देने से सोसायटी की गाड़ी धीरे-धीरे पटरी पर आ गयी। कहीं से एक ट्रैक्टर भी उधार ले आये और धीरे-धीरे खेती का रंग बदला। इस समय अन्य सदस्यों ने भी काफी पसीना बहाया। पूरा एक साल बिना वेतन के ही काम चलता रहा। तीसरे साल कुछ पैर जमने लगे। १६ हजार रुपयों का कर्ज चुकाने के उपरान्त सोसायटी को ९ हजार का फायदा हुआ। मारपीट के कई मामले पुलिस तक गये और वहाँ की गुण्डागिरी पर रोक लगी। लेवी (कर) अधिक देने के कारण सरकार में भी हमारा वजन बढ़ा और सोसायटी की आर्थिक स्थिति सुधारने की दृष्टि से थोड़ी-बहुत ईख की फसल करने की अनुमति भी मिली।

ठीक ढंग से खेती करने से आज यह सोसायटी सोने की खान बन गयी है। इसका बहुत सारा श्रेय श्री मायदेव को ही है। मैं इस सोसायटी के निमित्त से अपने विचार स्पष्ट कर रहा हूँ।

एक आदमी के पीछे पूंजीगत खर्च कितना हो? वह आज नहर के पानी से सिंचाई होनेवाली खेती पर औसतन एक हजार रुपया है। मांजरी में यह औसत दो-ढाई गुना होनी चाहिए। इससे अधिक पूंजीगत खर्च हम बढ़ाते हैं, तो

यह हमारी एक 'ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी' बनेगी। सोसायटी के सदस्य विशेपाधिकारप्राप्त वर्ग (Privileged Class) के होंगे। वास्तव में वहाँ स्थायी तौर पर रहनेवाली स्त्री-मजदूरिनों को भी उसका सदस्य बनाना चाहिए। उनकी मजदूरी पर भी बोनस बाँटा जाय। इस सोसायटी को आज नौ साल हो गये। ठीक ढंग से काम करने से आज सोसायटी नयी जमीन खरीदने तक की क्षमता रखती है। लेकिन अड़ोस-पड़ोस के किसानों को सहकार का महत्त्व समझा देने की शक्ति उसमें पैदा नहीं हुई। सहकारी खरीद-बिक्री जैसे सहकार के सीधे-सादे प्रकार तक उन पास-पड़ोस के किसानों को समझाते नहीं बने।

यदि सहकारी आन्दोलन हमारे जीवन की एक जीवित प्रेरणा है, तो उसे चाहिए कि वह आसपास के लोगों के जीवन में व्याप्त हो जाय। सहकारी क्षेत्र के छोटे-छोटे डबरे तैयार करने मात्र से मुझे तसल्ली नहीं। युवक पीढ़ी को सहकारी तत्त्वों का समग्र दर्शन होना ही चाहिए। इसमें शक नहीं कि एकआध सहकारी समिति को सफल कर दिखाने और उतने से ही संतोष मान लेने की हमारी वृत्ति रही, तो मैं यही कहूँगा कि हमारा वैचारिक विकास रुक गया!

आज की पूँजीवादी समाज-रचना का जबरदस्त मुकाबला करने की शक्ति हमारे इस सहकारी-आंदोलन में पैदा होनी चाहिए। अन्यथा यह भी सम्भव है कि 'सहकार' का अर्थ पूँजीवादी समाज-रचना पर आधृत एक अमरबेल (परोपजीवी

लताविशेष) भी हो सकता है। इस तरह की अवरुद्ध और अल्प-सन्तोषी वृत्ति मुझसे देखी नहीं जाती। हमारे प्रत्येक काम से अपनी आँखों के सामने अपेक्षित क्रांति का चित्र सदैव स्पष्टतर होता जाना चाहिए और साथ ही यह विश्वास भी होना चाहिए कि हम उसके निकट जा रहे हैं। इस क्रान्ति के प्रसंग में ही इन सब कामों का सच्चा मूल्य है।

९ अक्तूबर १९४९ को मैं सेवा-दल की सभा के लिए थाना रवाना हुआ था। दादर स्टेशन आने में कुछ देर हुई। मैं पहुँचा, तो गाड़ी के छूटने का समय हो गया। यह गाड़ी चूकती, तो मैं सभा में एक घंटा देर से पहुँचता। अतः दौड़ पड़ा और चलती गाड़ी में चढ़ने का प्रयत्न किया। लेकिन इससे सेवा-दल की सभा में जाने में एक साल की देर हो गयी। मेरा पाँव फुटबोर्ड पर से खिसक गया और मैं प्लेटफार्म और गाड़ी के बीच गिर पड़ा। पता नहीं कैसे, पहिये के सामने निकली हुई लोकल गाडी की लोहे की डंडी मेरे हाथ लगी। उसे पकड़ लेने से गाड़ी के साथ-साथ मैं भी घसीटा जाने लगा। लोगों ने हो-हल्ला मचाकर गाड़ी रोकी, तब तक वह आधे से अधिक प्लेटफार्म पार कर चुकी थी। लेकिन मैं पूरे होश में था। यही नहीं, हाथ की घड़ी का सेकंड-काँटा तक चलता हुआ मुझे दीखता था।

गाड़ी रुकने पर मैं गिरी हुई अपनी पेन और चप्पल खोजने लगा। खून से सारी पीठ लथपथ हो गयी थी, पर इसकी मुझे सुध नहीं थी। मुझे याद आता है, तब कुछ लोग हँसे

थे। उन्हें लगा होगा कि बचने की खुशी मनाने के बजाय चार-आठ आने की चीज का लोभ देखो। लेकिन मैं सोचता था कि प्राण तो बचे ही, तब ये चीजें भी क्यों छोड़ी जायें?

मुझे के० ई० एम० अस्पताल में ले जाया गया। डा० वभे हाउस सर्जन थे। मेरा केस डॉ० बालिग के सिपुर्द था। मैं जनरल वार्ड में ही था; लेकिन वैकुण्ठ भाई, मुरारजी भाई आदि देखने आये, इसलिए उपचार अच्छा चला। इलाज जल्दी हुआ। जख्म गहरा था। उस समय सारे बदन का दर्द सहन करने में मेरी सहनशीलता इतनी तानी गयी कि टूटना ही चाहती थी। परन्तु सहन करने के सिवा कोई चारा भी नहीं था। डॉ० बालिग ने ग्राफ्टिंग किया। इससे जो घाव भरने में पूरा छह महीना लगता, वह आसानी से दो महीने में भर गया। बाद में कुछ दिन पन्हाले में कोरगाँवकर के बँगले में जाकर रहा। हवा बदलने से जल्दी लाभ हुआ और दो-चार मील घूमने-फिरने तक मेरी प्रगति हुई। इसके बाद मै वर्धा आया।

तब तक चरखा-संघ की नीति बदल गयी। बड़ी-बड़ी संस्थाओं को तोड़ छोटी-छोटी स्थानिक संस्थाएँ खड़ी करने का निश्चय हो गया था। इस कारण चरखा-संघ से मेरा कोई खास तात्त्विक मतभेद नहीं रहा। हर जगह राजनैतिक अड़ंगेबाजियों के कारण महाराष्ट्र में मेरा सारा रचनात्मक काम निस्तेज सिद्ध होता जा रहा था। एक ओर कांग्रेस के नेताओं को मेरी निर्दलीय भूमिका मान्य नहीं थी, दूसरी

और मेरे समाजवादी मित्रों को भी वह अमान्य ही थी। इसलिए भले ही विचारों में सहमत न हों, तो भी कम-से-कम आचार में तो सहकारी होने के नाते चरखा-संघ के लोग ही मुझे निकट के प्रतीत होते थे। सेवाग्राम में मार्च १९४८ के रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सम्मेलन के निश्चय के अनुसार सर्व-सेवा-संघ की स्थापना हुई। उस समय प्लॉनिंग-कमीशन के खेती-ग्रामोद्योग सलाहकार-मंडल में सर्व-सेवा-संघ की ओर से डॉ० कुमारप्पा और मुझे भेजा गया। मैं इस निश्चय पर पहुँचा था कि यदि खेती के माल का भाव कुछ तय हो और कुछ समय तक वह स्थिर रहे, तो ही आज के गाँवों की आर्थिक स्थिति सुधरेगी। भाव की घटा-वढ़ी की यह रस्साकशी यदि रोकी जा सकी, तो किसानों के जीवन में कुछ स्थिरता आयेगी और उनकी क्रय-शक्ति बढ़ेगी। इसलिए मुझे यह भी लगता था कि दिल्लीवालों से भी हमारा सम्बन्ध रहे।

जून १९५१ में बम्बई और केंद्रीय सरकार की ओर से हम छह लोग जापान में ग्राम-उद्योगों के निरीक्षण के लिए गये। मुझे जापान ले चलने के लिए श्री प्राणलालभाई कापड़िया ने बहुत प्रयत्न किया। केंद्रीय सरकार की ओर से मैं जापान गया। जापान में 'हमामात्सु' जिले में प्राणलाल-भाई के एक मित्र बिजली के करघों का एक कारखाना चलाते हैं। उन्हींके घर हम लोग रहे। वहाँ हमने स्टेशन-वैगन खरीद ली और गाँव-गाँव में लगभग दस हजार मील

का प्रवास किया। प्राणलालभाई वहाँ से परिचित थे ही। छोटे-मोटे शहर और कारखाने तो हमने देखे ही, पर खासकर जापानी ग्रामों के जीवन का भी बारीकी से अध्ययन किया। वहाँ के कृषि-संशोधन केंद्र, प्रात्यक्षिक केंद्र, खेती की पद्धति, सिंचाई-योजना आदि का भी गहराई से अध्ययन किया। अपने देश में उपयोगी सिद्ध हो सकनेवाले ८–१० ग्रामोद्योगों का भी अध्ययन किया।

उद्योगों और यन्त्रों की दृष्टि से जापान काफी प्रगति पर है। उसके उद्योग छोटे-छोटे गुटों में बँटे हैं, फिर भी पूँजी की दृष्टि से वे केन्द्रित ही हैं। काम विकेन्द्रित है, पर उद्योग और पूँजी केन्द्रित ही हैं। उनके साथ चलनेवाली सत्ता भी केन्द्रित है। बिजली से चलनेवाले यन्त्र प्रत्येक घर में हैं। जापान ने ऐसे छोटे-छोटे यन्त्र चलाकर उत्पादन-क्षेत्र में बहुत बड़ी सफलता पायी है, जो चलते तो बिजली से ही हैं, पर विशाल जनशक्ति को ध्यान में रखकर उन पर हाथों से ही काम करना पड़ता है और इसी कारण बेकारी पैदा नहीं हो पाती। इन मशीनों की कार्यक्षमता इतनी ही है कि मनुष्य केवल हाथों से जितना काम कर सकता है, उससे दो-ढाई गुना अधिक काम कर सके। इससे अधिक काम इनसे नहीं होता। जापान का आदमी आज हाथों से हमारी अपेक्षा चार-पाँच गुना अधिक काम करता है और ऐसे यन्त्रों के कारण उसकी कार्यक्षमता हमसे १० गुना बढ़ी है। उसने कार्यक्षमता बढ़ाने का प्रयत्न बुद्धिपूर्वक पिछली ५-६

पीढ़ियों में किया है। यह सारा हमारे यहाँ, कहाँ तक सफल होगा—यही असली सवाल है।

हमें अपने देश के लोगों की आज की स्थिति पहचान करके ही मशीनों का निर्माण करना चाहिए। आज हमारे एक मजदूर की कार्यक्षमता इतनी कम है कि जापान जैसे यन्त्र हमारे काम ही नहीं आयेंगे। यहाँ के मनुष्य के अनुरूप ही यहाँ मशीनें बनानी होंगी और उनकी शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाय, त्यों-त्यों मशीनों में भी सुधार करते जाना होगा। इस दृष्टि से प्रयत्न करने के बजाय स्वयंचालित यन्त्रों की ओर आज हम तेजी से दौड़ रहे हैं। इससे बेकारी की वृद्धि होने में ही मदद हो रही है—यह देश का दुर्भाग्य है।

श्री आर० के० पाटिल ग्रामोद्योग सलाहकार-मंडल के अध्यक्ष थे। प्लॉनिंग-कमीशन के सलाहकार-मंडल की पहली सभा में ही श्री डा० कुमारप्पा ने अपना दृष्टिकोण साफ-साफ रख दिया। उन्होंने कहा—"पूँजी निर्माण करने की आपकी विचारधारा मुझे मंजूर नहीं। आपकी योजना का यह आधार ही मुझे मान्य नहीं है कि पूँजी का निर्माण करने के लिए आज जितनी भी पूँजी है, वह सारी-की-सारी बड़े उद्योगों में लगा दी जाय। भारत में २० करोड़ लोग हैं। उनके ४० करोड़ हाथों की शक्ति का उपयोग करने की दृष्टि से इस पूंजी का विनियोग ही पूंजी निर्माण करने का सही और समीप का रास्ता है।" डॉ० कुमारप्पा की विचारसरणी

औरों को मान्य न हुई और प्लॉनिंग-कमीशन की अगली बैठक में वे उपस्थित नहीं रहे।

मैं वहाँ अपना कुछ भी निश्चित विचार बनाकर नहीं गया था। मुझे इस बात का अध्ययन करना था कि भारत की अर्थनीति सर्वोच्च स्तर पर किस प्रकार चलती है, वहाँ लोग किस तरह विचार करते हैं। साथ ही मेरी यह भी भावना थी कि यदि अपना दृष्टिकोण प्रभावशाली रहा, तो खेती और ग्रामोद्योगों की दृष्टि से पंचवर्षीय योजना में कुछ व्यवस्था हो जाय, तो देखें। एक-डेढ़ साल तक मैं इन सभाओं में आता-जाता रहा। मेरे विचार स्पष्ट होने और मेरी योजनाओं को पूर्ण स्वरूप में देखने की दृष्टि से दिल्ली का यह कार्यक्रम काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। उस समय कर्ज के प्रश्न पर मतभेद निर्माण हुआ। सहकारी-समितियों द्वारा ही कर्ज दिये जाने का एक विचार था। मैंने अपना विचार सामने रखा कि सहकारी-समितियों द्वारा तो १० प्रतिशत किसानों को ही कर्ज मिल सकेगा। ९० प्रतिशत छोटे-छोटे किसानों के कर्ज की, जिन्हें आज आप कानून से कर्ज नहीं दे सकते, क्या व्यवस्था होगी ? 'चूँकि उनके पास जमीन कम है, इसलिए उन्हें कर्ज नहीं मिल सकता'—यह उत्तर केवल कानून की दृष्टि से ठीक है, पर यह पंचवर्षीय योजना कर्ज लेनेवाले १० प्रतिशत लोगों के लिए है या उत्पादन बढ़ाने के लिए काम करनेवाले सबके लिए ? राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने में जो छोटे किसान प्रत्यक्ष पसीना बहाते हैं, क्या

उनके लिए योजना में कोई स्थान नहीं है ? आज नहीं, तो क्या कल उसे प्राप्त कराने का आपके पास कोई दूसरा कार्यक्रम है ?"

इस पर दूसरा पहलू यह था कि "पहली पंचवर्षीय योजना प्रधानतः उत्पादन बढ़ाने के लिए है और आर्थिक दृष्टि से यही उचित है कि उत्पादन-वृद्धि के लिए बड़ी ज़मीन के मालिकों को आज तुरन्त मदद दी जाय।" लेकिन इस प्रकार के विचारों से मैं सहमत न हो सका। इसके बाद 'रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी' की स्थापना हुई। इस समस्या का सर्वांगीण और सूक्ष्म विचार करके रिपोर्ट तैयार की गयी है। कर्ज देनेवाली सहकारी संस्थाओं को बढ़ाकर वे किस प्रकार अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचें, इस दिशा में सरकार आज कदम रख रही है। लेकिन वह जब तक बाजार-भाव पर नियन्त्रण नहीं कर पाती और खेती से उत्पन्न माल के भावों तथा अन्य सभी बाजार-भावों में सामंजस्य लाने की दृष्टि से कुछ प्रयत्न नहीं करती, तब तक सहकारी संस्थाओं के पैर डगमगाते ही रहेंगे। देश का जल्दी ही औद्योगीकरण होने के लिए खेती के माल और कच्चे माल की कीमत कम-से-कम करने की विचार-पद्धति का आज बड़ा जोर है। इस विचार-पद्धति का मुख्य मुद्दा यह है कि आज चूंकि खेती का उद्योग बहुत निचले दर्जे पर पहुँच गया है और उसमें चाहे जितनी पूँजी लगायी जाय, पर पूंजी-निर्माण का काम इससे होनेवाला नहीं है, इसलिए अन्य उद्योग-धंधों को ही जोरों से

बढ़ाना चाहिए और उनमें होनेवाले नफे से खेती को जिंदा रखा जाय।

आज हमारे देश के समूचे उत्पादन का ४८ प्रतिशत कल-कारखानों से होता है। मेरी धारणा यह है कि पूंजी-निर्माण करने का प्रबल साधन खेती का सुधार और स्थिरता ही हो सकता है। इसलिए पंचवर्षीय योजना का आधार यह हो कि खेती के माल का भाव इस प्रकार तय किया जाय, जो किसान को पुसाये।

१९४८ से '५२ की अवधि में मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए! एक यह सूचना थी कि दिल्ली-मंत्रिमंडल में ग्रामोद्योग-विभाग को सँभालूँ। सरकार में रहकर काम करें या न करें, इस सम्बन्ध में मेरी धारणा निश्चित नहीं हो पाती थी। उसके बाद हमारे सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का विचार स्पष्ट होता चला। यह विचार पक्का होता गया कि सरकार से सम्बन्ध न रखते हुए, पक्षातीत भूमिका में रहकर काम करनेवाले लोग देश में रहें और वे जन-साधारण का संगठन करें। इसी समय 'खादी-ग्रामोद्योग बोर्ड' की स्थापना हुई। उसका सेक्रेटरी मुझे बनाने का खूब प्रयत्न चला। लेकिन मैंने इनकार कर दिया। मैंने तय किया कि सरकारी यन्त्र के साथ वैतनिक या अवैतनिक किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। अप्रैल १९५२ में अ० भा० चरखा-संघ के मंत्री के नाते मैं काम करने लगा।

वर्धा में खादी-विद्यालय चलाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। ग्रामीण जनता का आर्थिक विचार करने के लिए खेती को अपनाना जरूरी था। वह भी मुझे अब मिला। महाराष्ट्र में मांजरी में ही ऐसा विद्यालय चलाने की मन में काफी इच्छा रही, परन्तु उसके चारों ओर आवश्यक ग्रामोद्योगों का वातावरण नहीं था। महाराष्ट्र में महाराष्ट्र सेवा-संघ द्वारा तथा और भी ३-४ स्थानों में ऐसे विद्यालय खोलने की दृष्टि से मैंने प्रयत्न किया, लेकिन वह सधा नहीं। वर्धा के खादी-विद्यालय के साथ खेती जोड़ देने के कारण मैंने वहीं काम करने का तय किया। मैं मानता था कि गांधीजी के बाद चरखा-संघ, गो-सेवा-संघ आदि सभी अखिल भारतीय संस्थाओं को एक हो जाना चाहिए। औरों की भी विचारसरणी इसी प्रकार की थी। अतः १९५३ में अ०भा० सर्व-सेवा-संघ में चरखा-संघ को विलीन कर दिय गया। हिंदुस्तानी तालीमी संघ और हिंदुस्तानी प्रचार-सभा, दोनों सर्व-सेवा-संघ से संलग्न हैं। आज की नीति यह है कि जहाँ स्थानिक संस्था नहीं है, वहाँ स्थानिक संस्था खड़ी होने तक सर्व-सेवा-संघ ही खादी-उत्पत्ति या व्यापार का काम देखे, पर साधारणतया ये दोनों काम स्थानिक संस्था को ही सौंपे जायँ। सर्व-सेवा-संघ शिक्षण, संशोधन और विचार-प्रचार का काम करे। आज विचार-प्रचार का काम भूदान-आंदोलन के द्वारा हो रहा है। खादी-ग्रामोद्योग-कमीशन द्वारा मगनवाड़ी में ग्रामोद्योग-संशोधन का काम भी चालू है। खादी-कार्यकर्ता तैयार

करने का काम भी आज खादी-कमीशन की ओर से ही हो रहा है।

गांधीजी की राय थी कि खादी का काम धीरे-धीरे सरकार को उठा लेना चाहिए। मद्रास में १९४७ से ही 'फिरका डेवलेपमेण्ट' योजना द्वारा खादी का काम सरकारी तौर पर चलता रहा। आज भी पंचवर्षीय योजना में खादी और ग्रामोद्योगों को स्थान देने की बात सरकार ने मान्य कर ली है और कमीशन नियुक्त कर उसकी जिम्मेदारी भी उठायी है। आज की बदली हुई परिस्थिति में ये काम सरकार, विकास-योजना, एन० ई० एस० या अन्य अर्ध-सहकारी योजनाओं के मार्फत ही हो, यही अधिक व्यवहार्य और आवश्यक है। ●●●

नयी क्रांति का दर्शन

: ७ :

१९४८ से १९५३ तक का समय मेरे लिए विचार-मंथन का तो था ही, अत्यन्त निराशाप्रद भी था। मेरे ध्यान में आने लगा कि स्वातन्त्र्य मिला, फिर भी स्वराज्य अभी काफी दूर है। मुझे विश्वास हो गया कि इस स्वातन्त्र्य से पूंजीवाद का ही निर्माण होगा। दिल्ली के प्लॉनिंग-कमीशन के अपने अनुभव से मुझे यह साफ दीखने लगा कि हिंदुस्तान का जो भावी चित्र हम देख रहे हैं, उसमें और हिंदुस्तान को जो रूप दिया जा रहा है, उसमें जमीन-आसमान का अन्तर है।

आज सर्वसाधारण भारतीय अर्थशास्त्रज्ञ की दृष्टि यही है कि 'रूस का विकास तभी हुआ है, जब कि वहाँ के दो-चार करोड़ लोगों को वहाँ के डिक्टेटरों ने आधा पेट रहने के लिए मजबूर किया। पाश्चात्य देशों का विकास वहाँ के साम्राज्य के कारण हुआ। अब अपने देश का भी विकास करना हो, तो यहाँ के ५-६ करोड़ लोगों को भी आधा पेट और अर्धनग्न रहकर और भी कुछ साल कठोर श्रम करना होगा। हमारे देश के लिए गरीबी नयी बात नहीं है। इसलिए इसमें विशेष खिन्न होने की बात ही क्या है? औद्योगीकरण के लिए त्याग का मूल्य चुकाना ही पड़ता है। खुली आँखों

डाँट-डपट दिखाकर कहीं विकास किया जाता है, तो कहीं परोक्ष रूप से कच्चे माल का भाव उतार कर, जनता की क्रय-शक्ति को कम करके वैसा करना पड़ता है। लेकिन विकास करना हो, तो यह नींव भरना जरूरी है। इसलिए आज जो कुछ हो रहा है, वह अनिवार्य है।' आज प्लॉनिंग-कमीशन की यही विचार-पद्धति है। यही नहीं, आज 'सोशलिस्टिक पैटर्न' (समाजवादी समाज-रचना) को मानने-वाले सभी पक्ष थोड़े-बहुत फर्क के साथ यही कहते हैं। कारण सभी का उद्देश्य यही है कि देश का औद्योगीकरण हो, राजनैतिक दृष्टि से हमारा देश स्वावलंबी हो और इसलिए शस्त्रास्त्रों तथा यन्त्रों का निर्माण यहाँ हो। आज पंचवर्षीय योजना से किसीका विरोध नहीं, इसका भी यही कारण है।

लेकिन इसका अर्थ यही है कि उद्योग-धंधों से हमेशा ही खेती पर आघात होता रहेगा, क्योंकि उद्योगों का यंत्रीकरण हो और खेती बैल की शक्ति पर चले—इस समीकरण में विषमता कायम ही रहेगी। यह बिलकुल सही है कि एक-दो पीढ़ी के खाली पेट रहकर काम किये बिना देश की समृद्धि नहीं होगी। लेकिन आज भूखे रहने के लिए लोगों को आवाहन करने की ताकत किसमें है? क्या उनमें है, जो आज भूखी जनता की छाती पर बैठकर स्वयं सभी सुख भोग रहे हैं? फिर स्वार्थ-त्याग करें भी, तो किसलिए करें? क्या इसी विषमता को कायम रखने के लिए? स्वराज्य मिलने के

बाद गरीबों को जिन-जिन सुविधाओं के मिलने की आशा थी, वह सब एकदम निस्सार सिद्ध हुई। इतना ही नहीं, अंग्रेजी राज्य में यहाँ के उद्योगों पर नियन्त्रण था और विदेश की सस्ती चीजें यहाँ मिल सकती थीं, किन्तु आज वह सुख भी छीन लिया गया! आज खुल्लमखुल्ला पूँजीवाद की मजबूत नींव भरी जा रही है। ऐसे त्याग का यह पूँजीवादी प्रमेय मान्य करने में मेरे मन को अत्यन्त यातनाएँ होती हैं।

दूसरी तरफ स्वराज्य प्राप्त करते समय गांधीजी ने जिन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की थी, वे सब आज एक के बाद एक नष्ट होते जा रहे हैं। पहले सरकारी नौकरी के प्रति हीन-भावना और तिरस्कार का भाव था। आज वही जन-सेवा का राजमार्ग बना हुआ है। जिन लोगों ने दो-तीन दशाब्दियों से त्याग किया है, वे भी आज उस त्याग को पूँजी बनाकर उसका उपयोग सत्ता या धनिकता का पद प्राप्त करने में धड़ल्ले से करते जा रहे हैं। यह माना जाने लगा है कि 'किसी भी प्रकार पैसा कमाना उचित है।' मेरे कई ऐसे मित्र हैं, जो बड़ी निष्ठा और उत्साह के साथ सेवा-कार्य में कूद पड़े थे। उन्होंने यहाँ तक माना था कि आदिवासी और ग्रामीण बच्चों का जो भविष्य होगा, वही मेरे बच्चों का होगा। वे जो पढ़-लिख पायेंगे, वही मेरे बच्चों का भी शिक्षण होगा। इतनी तीव्रता के साथ उन्होंने काम शुरू किया था। लेकिन वे ही आज यहाँ तक आ पहुँचे हैं कि लड़के के लिए लड़की खोजते समय यही सोचते हैं कि खूब दहेज मिले, वही

जगह देखूँ और लड़के की खोज के समय यही देखते हैं कि लड़का आई० ए० एस० हो। खुद ने तो 'गांधी-विवाह' किया, पर लड़की के विवाह में ४-५ हजार का खर्च कर डाला—इस प्रकार के दृश्य देखते-देखते मेरी परेशानी बढ़ जाती है।

शरीर को खाने की जैसी आदत पड़ी है, उसी प्रकार कुछ-न-कुछ शारीरिक काम होना चाहिए, केवल इसी नाते हम रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। इसमें कुछ भी अर्थ नहीं रहा। आज यह काम बिलकुल निष्प्राण है। वास्तव में अब हमारी पीढ़ी का काम समाप्त हो चुका है और हमें जितनी जल्दी मृत्यु का आमंत्रण आ जाय, उतना ही अच्छा—कई दिनों तक मेरी ऐसी ही अवस्था रही। रचनात्मक काम से पहले की वह राजनैतिक धार खतम हो गयी थी। मैं यह साफ देख रहा था कि खादी-काम या ग्रामोद्योगों का काम एक प्रकार से भीख देने जैसा है, सभी ग्रामोद्योगों का स्वरूप एक तरह से सहायता-कार्य जैसा बना हुआ है। मेरी इस मनःस्थिति का परिणाम कदाचित् मेरे शरीर पर भी हुआ हो। उस समय मेरा पेट बहुत खराब हुआ। पायरिया शुरू हो गया। शरीर में रक्त की कमी हो गयी।

निराशा के इस अन्धकार में राह टटोलने का मेरा प्रयत्न चल रहा था कि इसी बीच देश में भूदान-आन्दोलन का जन्म हुआ। केवल भूमि के चार टुकड़े हस्तांतरित करना ही इस आन्दोलन का स्वरूप माना जाय, तो यह भी एक

दया पर आधारित, 'भिक्षां देहि' का ही एक रास्ता है—ऐसा मानना होगा। लेकिन मैं इस भूदान-आन्दोलन की तरफ इसी दृष्टि से देखता हूँ कि यह सामाजिक और आर्थिक क्रांति की भूमिका तैयार करने का एक प्रयत्न चल रहा है।

१९२० में गांधीजी ने एक महान् क्रांति का शिलान्यास किया। इस क्रांति की पहली प्रक्रिया है, समाज में रूढ़ और स्थिर मूल्यों को उखाड़ना। तब अंग्रेजी भाषा और पोशाक का विद्रोह था। वृत्ति गुलामी की बनी हुई थी। गांधीजी ने उसी पर पहला हमला बोल दिया और सारे संसार में भारतीयता को सम्मानपूर्ण स्थान दिला दिया। आगे चलकर अंग्रेजी कानून तोड़ा। सत्ता के हरएक निशान पर पहले-पहल वैचारिक आघात ही हुआ करता है। किसी भी क्रांति के पहले कदम ऐसे ही होते हैं। गांधी-टोपी से स्वराज्य आनेवाला नहीं था, लेकिन स्वराज्य उसीके कारण आया।

भूदान-आन्दोलन में एक-दो एकड़ जमीन के दान का उतना ही महत्त्व है, जितना उन दिनों गांधी-टोपी लगाने का था। भूमि का पुनर्वितरण, संपत्तिदान, यह एक प्रकार के सामाजिक कर्तव्य के रूप में प्राथमिक उपचार के नाते आज मान्य होते जा रहे हैं। यह स्थूल भाग है, लाक्षणिक काम है। इसका भी लेखा-जोखा रखना जरूरी है। लेकिन इतने से ही सारी क्रांति नहीं हो जाती। इस लाक्षणिक कृत्य से मूल्य-परिवर्तन का कार्यक्रम विकसित होना चाहिए। इसके बिना भूदान-कार्य भी 'रिलीफ वर्क' (सहायता-कार्य) बन

बैठेगा। आज भी समाज में रूढ़ कई सामाजिक मूल्यों को बदलना अत्यावश्यक हो गया है। सरकार यही सिखा रही है कि देश का सारा काम सरकार और सरकारी आदमी से ही होगा। इसी अभिनिवेश के साथ आज सरकार का काम चल रहा है। लेकिन इससे लोगों की स्थिति को बदलने की अपेक्षा करना निरा भ्रम है। किसीको भी अपनी स्थिति सुधारनी हो, तो अपने पाँवों पर ही खड़ा होना पड़ता है। जन-शक्ति का ही आवाहन करना जरूरी है। अधिकार ग्रहण करने से यह नहीं सधेगा। सत्ता से दूर रहकर ही जनशक्ति जाग्रत करनी होगी। फिर से त्याग की भूमिका बढ़नी चाहिए। फिर से समाज से एकरूप होनेवाले और शरीर-श्रम को जीवन का मुख्य आधार माननेवाले लाखों कार्यकर्ता देश में पैदा होने चाहिए। सामाजिक भेद मिटने चाहिए और 'एक गाँव—एक परिवार' यह आदर्श निर्माण होना चाहिए।

ये सारे विचार भूदान द्वारा समाज को एक नयी भूमिका दे रहे हैं, नये मूल्य स्थापित कर रहे हैं और श्रम पर आधारित नया आचार प्रस्तुत कर रहे हैं। इसीलिए मुझ जैसे रचनात्मक काम में ओतप्रोत आदमी को इस आन्दोलन के कारण फिर से एक आशा की किरण दीखने लगी है। भूदान के काम के लिए और दस साल जीने की इच्छा हो रही है।

जब मैंने इस काम की, खासकर कोरापुट के ग्रामदानी गाँवों के पुनर्निर्माण की, जिम्मेदारी ली, तब सबसे पहले

मेरी गिरी हुई सेहत रोड़ा बन बैठी। लेकिन इस नयी जिम्मेदारी के कारण एक अपूर्व मानसिक उत्साह मेरे अन्दर पैदा होने लगा और मैंने जीने तथा पूर्ण स्वस्थ होने का तय किया। मैंने अपना पूरा आहार बदल दिया। पका अन्न छोड़ा। साग, भाजी, फल, नारियल आदि कच्चा अन्न लेने लगा। आसन सीखे। आज पुनः दिन में ८–१० घंटे काम करने या ८–१० मील चलने-फिरने की क्षमता मुझमें आ गयी है।

१९२० में मैंने वर्धा में पहले-पहल विनोबाजी को देखा था। उनकी अलौकिक बुद्धि-शक्ति के बारे में बहुत कुछ सुना था, लेकिन मैं आश्रम में खास कभी रहा नहीं। विनोबा उस समय 'लोकसंग्रही' नहीं थे, बल्कि उनकी ख्याति निपट एकाकी के रूप में ही थी। कोई आधे घंटे तक बड़बड़ाता रहे, तो उसका उत्तर भी ये एक-दो शब्दों में देते।

किसीसे प्रश्न पूछने की मेरी कभी मनोवृत्ति ही नहीं थी। इस कारण उनसे मेरा कभी विशेष परिचय बढ़ नहीं पाया। लेकिन वे अलौकिक शिक्षक हैं। एक बार महिला-श्रम में मराठी के चौथे-पाँचवें दर्जे की लड़कियों को 'गीताई' पढ़ाते समय मैंने उनकी शिक्षण-कुशलता देखी है। वे अत्यन्त परिशुद्ध शास्त्रीय रीति से, गणितीय पद्धति से विचार समझाते जाते हैं। उनके मुद्दे इतने नपे-तुले होते हैं, मानो कोई सरल रेखा खींच रहा हो। चिंतन और मनन की वृत्ति होने के कारण आज उनकी स्थिति एक द्रष्टा या ऋषि जैसी

है। व्यवहार में भी उचित रूप से वे अमल कर सकते हैं, तभी उनको भूदान के प्रत्यक्ष कार्य में आँखों को चौंधियानेवाली सफलता मिली है। भूदान-आन्दोलन में वे केवल सामाजिक या आर्थिक पहलू के वजाय आध्यात्मिक पहलू पर ही विशेष जोर देते हैं।

इस आन्दोलन द्वारा एक नया अर्थशास्त्र तैयार हो रहा है। यह हमें ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि भारत की भूमि-समस्या क्या है। यह बात नहीं है कि भूदान से ही सारी समस्याएँ सुलझेंगी, फिर भी भूमि-समस्या का हल किस प्रकार हो, इसका पूरा चित्र हमें साफ-साफ समझ लेना चाहिए। भूमि की यह समस्या न केवल भारत में, बल्कि एशिया के सारे राष्ट्रों के सामने बहुत बड़ी समस्या है। वहाँ जनसंख्या अधिक और जमीन कम है। लोगों को पेट भर खाने को नहीं मिला, तो शांति कहीं भी नहीं रहेगी। इसीलिए सभी देशों में इस समस्या को सुलझाने की कई योजनाएँ, कई उपाय सोचे जा रहे हैं। कानून से यह समस्या हल करने का प्रयत्न हो रहा है। सभी कानून इसी दृष्टि से बन रहे हैं कि धीरे-धीरे भूमि का हस्तांतरण हो, बड़े जमींदार खतम हों और कोई भी भूमिहीन न रहे। बीच के व्यापारी और साहूकार-जैसे अनुत्पादक दलालों को मिटाया जाय। कई राष्ट्रों में इसके लिए रक्त-रंजित विद्रोह हुए, तो कहीं-कहीं कानून से जबरदस्ती की गयी।

हिंदुस्तान के भूमिवालों में से ७६ प्रतिशत वर्ग ऐसा है,

जिसके पास की जमीन के टुकड़े कुल मिलाकर ५ एकड़ से भी कम हैं। जमीन के टुकड़े तो हुए ही हैं और हरएक पीढ़ी में और भी छोटे टुकड़े होते जायँगे। हरएक को कम-से-कम मात्रा में जमीन दे देना भी इस समस्या को सुलझाने का एक तरीका हो सकता है। यदि ये टुकड़े उपजाऊ न दीखें, तो लोग पुनः एकत्रीकरण (चकबन्दी) कर फिर से अपने अनुपात में बाँट लेने का विचार करने लगेंगे। केवल कानून से न तो भूदान ही होगा और न चकबन्दी की योजना ही सफल होगी। जिस वस्तु की माँग ज्यादा हो और पूर्ति कम, उसका या तो वितरण करना पड़ता है या राष्ट्रीकरण। जीवनोपयोगी वस्तुओं पर सभी का हक है, ऐसा ही रास्ता उसमें से निकालना होगा। आज भूमि भी ऐसी ही वस्तु है। भूदान द्वारा यही विचार देश के सामने रखा जा रहा है कि या तो भूमि का वितरण करो या उस पर सामूहिक स्वामित्व मानो। 'जमीन को जीवनावश्यक वस्तु मानकर समाज के हित की दृष्टि से उसका अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए'—इस नतीजे पर न केवल भारत को, बल्कि एशिया के सभी देशों को पहुँचना पड़ेगा।

केवल भूमि मिलने से आज की बढ़ती हुई जनसंख्या और बेकारी का हल नहीं होगा। जमीन की उत्पादन-क्षमता की समस्या तो इससे सुलझनेवाली है ही नहीं। यदि हम जमीन को समाज-पोषण का एक प्राथमिक साधन मान लें, तो उस पर अपनी निजी मालकियत का आग्रह छोड़ना ही होगा। उसे

बेचना, हस्तांतरित करना आदि सब बन्द होने चाहिए और शास्त्रीय दृष्टि से उसका उत्पादन बढ़ाने का भगीरथ प्रयत्न होना चाहिए। इसके कई रास्ते हो सकते हैं। एक रास्ता कानून का है, दूसरा खूनी क्रांति का और न्याय, बुद्धि तथा करुणा का आवाहन कर, मनुष्य का हृदय बदलकर यह काम करवा लेना—यह तीसरा रास्ता है। रास्ता कोई हो, वह परिस्थिति के अनुसार बदल भी सकता है, तो भी दिशा बिलकुल स्पष्ट है। मनुष्य की सदसद्विवेक-बुद्धि और खुली दूर-दृष्टि का आवाहन करना ही एक ऐसा रास्ता है, जिससे इस संक्रमण-काल को कम-से-कम कष्टकर बनाया जा सकता है। इससे वर्ग-संघर्ष या कटुता का निर्माण नहीं होता। मनुष्य मनुष्य का दुश्मन नहीं बनता। हम लोग कहते हैं कि सामाजिक और आर्थिक क्रांति होनी चाहिए। उसी दृष्टि से मूल्य-परिवर्तन का काम भी होना चाहिए। भूमि का अपनी राजी-खुशी से दान करना ही उत्तम मार्ग है। सभी की तीव्र इच्छा है कि इस यज्ञ में व्यक्तिगत स्वामित्व-भावना की पूर्णाहुति हो। इसमें गांधीजी के अहिंसक त्यागमय मूल्यों की परंपरा है और यही भारतीय परम्परा भी है। इसका आश्रय लेकर ही स्वामित्व-विसर्जन का विचार लोगों के सामने रखना जरूरी है।

यह विचार एक ही दिन में विकसित नहीं हुआ है। १८ अप्रैल १९५१ को पहला भूदान हुआ। व्यक्ति की सद्भावना जाग्रत कर भूमिहीनों को जमीन देने का विचार और

प्रयत्न हुआ ! तब कोई सोच नहीं सकता था कि हजारों की तादाद में दान मिलेंगे। सभी मानते थे कि त्याग की भूमिका नष्ट हो चुकी है, अतः कानून का रास्ता अपनाकर ही इस समस्या को सुलझाना होगा। लेकिन यह आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। एक समय इसका केन्द्र-बिन्दु यह था कि सब अपनी जमीन का छठा हिस्सा दे दें, तो सभी भूमिहीनों को भूमि मिल जायगी। लेकिन अनुभव से पता चला कि इतने भर से समस्या का समाधान नहीं होगा। विचारों का आन्दोलन आज 'ग्रामदान' की कल्पना तक आ पहुँचा है। आज इस विचार का प्रभाव अधिक है कि भूमि का समाजीकरण ही भू-समस्या का एकमात्र निर्णायक उत्तर हो सकता है। 'ग्रामदान' भूदान की कल्पना का विकसित रूप ही है। लेकिन सारी जमीन ग्राम-समाज की मान लेने पर भी उत्पादन-वृद्धि का प्रश्न, उद्योगों को बढ़ाने का प्रश्न, पूँजी की अत्यावश्यकता, सहकारी संघटन, ग्राम-संकल्प आदि नव-निर्माण-कार्य के कई महत्त्व के प्रश्न खड़े हो जाते हैं और छोटे-मोटे कार्यकर्ता आज अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उनका उत्तर देने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

विचार करते समय कई उलझनें खड़ी हो जाती हैं। सभी जमीन ग्राम-समाज की मान लें, तो भी उसका उपयोग कैसे किया जाय, यह प्रश्न अभी तक अनिर्णीत है। हम कहते हैं कि इसके बारे में ग्राम-समाज सोचेगा और वही इसमें से धीरे-धीरे रास्ता निकालेगा। यह भी सवाल पूछा जाता है
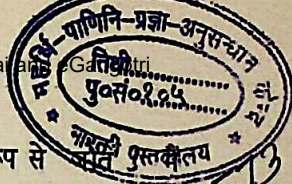
कि जमीन फिर से बाँटें या सामुदायिक रूप से जोतें नहीं मानता कि इस सवाल का हल सर्वत्र समान ही रहेगा। परिस्थिति और कार्यकर्ताओं की शक्ति के अनुसार संस्थाएँ बनती हैं। देश के हरएक हिस्से का अलग-अलग हल रहेगा। जाग्रत जन-शक्ति से संभव है कि कोई नया भी रास्ता दीख पड़े।

एक तरफ जमीन का समाजीकरण होता जाय और दूसरी तरफ पूँजी-प्रधान उद्योग निजी मालकियत के बने रहें, यह स्थिति सुसंगत नहीं। यदि सामूहिक जीवन के महत्त्व के कायल गाँव-समाज के नेता और ग्राम-पंचायतें भी विकसित हो जायँ, तो जमीन के साथ ही राजनैतिक सत्ता भी विकेंद्रित होगी। औद्योगिक कारखानों का भी राष्ट्रीकरण करना होगा और उद्योगों तथा खेती में काम करनेवालों का जीवन सन्तुलित रखना होगा। किसान और ग्राम ही इस आन्दोलन के अध्वर्यु बनेंगे और 'खेती उद्योगों की दासी' यह चित्र सदा के लिए मिट जायगा।

क्रांति आर्थिक या सामाजिक किसी एक जगह कभी नहीं होती। भले ही पहले उसका आविष्कार एक-दो जगह पर हो, पर वह सभी क्षेत्रों में फैल जाती है। इसके लिए वैचारिक भूमिका शीघ्र तैयार होनी चाहिए। मूल्य-परिवर्तन तेजी से होना चाहिए। सम्पत्तिदान, बुद्धिदान आदि का विचार आज केवल प्रस्तुत किया जा रहा है, फिर भी उनका पूरा विकास नहीं हुआ है। क्रांति के इस भव्य दर्शन से आज भूदान के कार्य-

कर्ता अत्यधिक प्रभावित हैं। भूमि-समस्या का हल हो जाय, तो प्रचंड कर्तृत्व-शक्ति जाग्रत होकर वह अपनी श्रम-शक्ति का विश्वरूप दिखलाती है—ये चीन जैसे कृषिप्रधान देश के अनुभव ताजे ही हैं। मन में यह विचार उठे बिना नहीं रहता कि आखिर यह आविष्कार हमारे देश में क्यों नहीं दीख पड़ता ? इस प्रकार सोचते समय यह अनुभव हुए बिना नहीं रहता कि आज के इस आंदोलन के वाहन बने हुए युवक मध्यमवर्गीय कार्यकर्ताओं की क्षमता पर्याप्त नहीं है।

इस देश में राजनैतिक क्रांति हुई। उस क्रांति में मध्यम-वर्ग के लोगों ने भारी संख्या में भाग लिया। उसके परिणाम-स्वरूप आज सत्ता भी उन्हींके हाथों में आयी है। इसके बाद की आर्थिक और सामाजिक क्रांति यहाँ के दलित और शोषित समाज की—श्रमजीवियों की क्रांति है। अपेक्षा यह है कि भूदान-आन्दोलन से यह जनशक्ति जाग्रत हो और वह अपना प्रभाव सार्वजनिक जीवन पर डाले। आज के नेता और मध्यम-वर्ग के कार्यकर्ता यह क्रांति नहीं कर सकते। आज ग्राम-संकल्प द्वारा सामाजिक और आर्थिक क्रांति का विचार रखा जा रहा है, फिर भी उसे श्रमजीवियों तक पहुँचाने का काम बुद्धिजीवी-वर्ग ही कर रहा है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि यह बुद्धिजीवी-वर्ग श्रमजीवियों के साथ एकरूप हो गया है। विचार और शरीर की दृष्टि से वह मध्यमवर्ग का ही है। जिस समाज में क्रांति की ज्योति जलानी है, उससे इस वर्ग का कोई साधर्म्य नहीं। मुझे लगता

है कि भूदान-आन्दोलन में यह सबसे अधिक कमजोर कड़ी है। क्रांति का प्रभावशाली विचार तो विकसित होता जाता है, पर उसके साथ ही इन विचारों का वाहक बना हुआ और नेतृत्व के पद पर स्थित कार्यकर्ता-वर्ग भी यदि विकसित न हो, तो यह क्रांति सफल नहीं होगी।

भूदान-आन्दोलन के सामने असली समस्या यही है कि विचारों के इस विकास के साथ ही श्रमजीवियों के नेतृत्व का भी किस प्रकार निर्माण हो, बुद्धिजीवियों और श्रमजीवियों के बीच का अन्तर किस प्रकार कम हो और आज काम करनेवाले कार्यकर्ता किस प्रकार श्रमनिष्ठ बनकर श्रमजीवी समाज के साथ एकरूप बनें! आज हमारी ओर आकृष्ट होनेवाले कार्यकर्ता मध्यमवर्ग के ही हैं और त्याग की भावना से ही वे आकृष्ट हुए हैं। उन पर थोड़े-बहुत संस्कार होते हैं, पर वे स्थूल आचार के ही होते हैं। सेवा और त्याग का उद्‌गम भावना में है, तो भी उसे स्थायी बनाने के लिए बुद्धि-निष्ठा की आवश्यकता होती है। केवल शारीरिक श्रमकार्य करने मात्र से मानसिक दृष्टि से भी वे श्रमजीवियों के साथ एकरूप हो ही जायँगे, ऐसा नहीं। प्रत्युत इस कर्मकांड का वास्तविक अर्थ उनके ध्यान में न आये और उन्हें क्रांति का स्पष्ट दर्शन न हो रहा हो, तो वे उन कर्मकाण्डों से ऊबकर या कर्म से चिपके रहकर भी मानसिकरीत्या श्रमजीवियों के साथ द्रोह ही करेंगे। फिर कुछ दिनों बाद वे इसलिए निराश भी हो जायँगे कि अपने

आचार और त्याग की कोई कीमत या फल उन्हें नहीं मिलता। जनता को अपनी ओर खींचने के लिए बहुत बड़ी शक्ति चाहिए और कार्यकर्ता को इसकी तैयारी करते रहना चाहिए। सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का आकलन करने की उसकी शक्ति बढ़नी चाहिए। भूदान का प्रचार करना हो, तो यह भी समझना चाहिए कि भूमि की क्या समस्या है और उसे सुलझाया कैसे जाय ?

समय आ गया है कि हम अपनी ग्राम-सेवा की सारी कल्पनाओं को फिर से परख लें। गाँवों में जाना, सेवा से उनका विश्वास प्राप्त करना और फिर अपना काम शुरू करना—यह भी एक 'गुरु-संप्रदाय' बना है। मैं स्वयं प्रवृत्ति शुरू करूँ या प्रवृत्ति शुरू हो, ऐसा संस्कार लोगों को देना मेरा काम है ? मुझे लगता है कि हम शैक्षणिक काम ही करें। ग्राम-सेवा का पूर्ण दर्शन करने से पहले आर्थिक परि-स्थिति का दर्शन जरूरी है। भूखी, नंगी, कंगाल जनता एकाएक अध्यात्म की भूमिका पर पहुँच नहीं सकती। आज तो कम-से-कम रोटी ही उसका परमेश्वर है।

श्री कुमारप्पाजी ने वर्धा से १६ मील की दूरी पर एक 'अग्रेरियन रिसर्च इंस्टीट्यूट' खोला था। स्वराज्य के बाद और अब भूदान के सिलसिले में भूमि-समस्या को असाधारण महत्त्व प्राप्त हो गया है। यदि हम स्वावलंबन का आदर्श रखते हैं, तो संतुलित आहार की दृष्टि से यह संस्था निम्न-लिखित बातें करे—जमीन में से कौन-कौन-सी फसलें पैदा की

जायँ और उसे इस आर्थिक परिस्थिति में कैसे टिकाये रखें— इसका विचार खाद, बीज, निराई हर फसल के लिए संशोधन और हर कच्चे माल से पक्का माल तैयार करने की क्रिया; उद्योग का ज्ञान देना और संशोधन का काम जारी रखना, आदि। यहाँ के संशोधन में भूदान के अनुषंग से भूमि का पुनर्वितरण तथा बाद का लेखाजोखा, कानून की समस्या और सहकारी खेती जैसे उपाय आदि विषयों का भी समावेश करना होगा। मेरी इच्छा है कि खेती का अर्थशास्त्र, कर्ज की व्यवस्था, खेती की पैदावार की बिक्री और उसकी कीमत आदि अनेक विषयों के हमारे दृष्टिकोण के विशेषज्ञ निर्माण हों। भूदान और ग्रामदान की ओर आकृष्ट होनेवालों के लिए आज इस प्रकार की संस्था की बहुत आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि संभव हुआ, तो उत्कल में ऐसी एक संस्था स्थापित की जाय।

विनोबाजी को इन समस्याओं और परिस्थिति की पूर्ण कल्पना है। उन्होंने एक साल पहले ही केंद्रीय संस्था और नियन्त्रण को तोड़ दिया। इसका कारण यही है कि जब क्रांति का विचार एक ही संघटन द्वारा देश के सामने रखा जाता है, तब उस संघटन की मर्यादा उस आन्दोलन पर भी आ जाती है। इसलिए उस संस्था के बंधन को तोड़ उस विचार को आम जनता तक पहुँचाने के लिए ऐसा करना पड़ता है। इस प्रकार का निर्णय करने में खतरा तो रहता ही है। कुछ समय तो ऐसी भी स्थिति पैदा हो जाती है कि

मानो आन्दोलन ठंढा पड़ गया और खतम हो चला। लेकिन यदि मूल विचार प्रभावशाली हो और वही जमाने की माँग हो, परिस्थिति का मुकावला करने का वही एकमात्र उपाय हो, तो यह निश्चित है कि वह प्रगति किये बिना नहीं रहेगा। इस पर हमारी निष्ठा रहनी चाहिए और हममें ऐसे अनेक खतरों का सामना करते हुए भी आगे बढ़ने का साहस और उत्साह होना चाहिए।

आज तो भूदान का काम करनेवाले एक तरह से घिर गये हैं। हर कोई इस आन्दोलन की प्रशंसा करता है। हर-एक राजनैतिक पक्ष इसे मान्यता देता है। लेकिन अपना सर्वस्व समझकर काम करनेवाला कोई नहीं है। केवल इस आन्दोलन में काम करनेवाले या रचनात्मक कार्यकर्ता ही इसे अपना मानते हैं। लेकिन वे भी अपने में क्रांतिकारी परिवर्तन कर लेने जितनी तैयारी में नहीं हैं। इस तरह विचार तो सर्वमान्य है, पर कृति-शून्य बन गया है। भूदान-आंदोलन का यदि विरोध हुआ होता, तो इसका प्रवाह बढ़ जाता, लेकिन अहिंसक और शांति के दूरगामी आंदोलन में ऐसा प्रवाह भी विशेष उपयोगी नहीं होता।

आज की जो यह घेरेबन्दी है, उसका विनोबाजी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं कि 'महाभारत में कौरवों के चक्रव्यूह जैसा आज भी यह एक चक्रव्यूह बना हुआ है। अभिमन्यु ने किसीकी परवाह न कर जैसे उसमें प्रवेश किया, वैसे ही मैंने भी अपने मुट्ठीभर साथियों के

साथ इसमें प्रवेश किया है। सभी लोग इस अभिमन्यु के धैर्य की स्तुति तो करते हैं, लेकिन कोई साथ चलकर इसके पार हो जाने की बात नहीं करता। बाकी लोग बाहर से ही युद्ध देख रहे हैं। सम्भव है, अभिमन्यु का जो हाल हुआ, वही हमारा भी हो और देश स्तंभित होकर केवल देखता ही रह जाय और आगे चलकर धैर्य की अखंड प्रशंसा चलती रहे।'

इस तरह वे यह कहना चाहते हैं कि सब अपने विचार को सक्रिय रूप से प्रकट करें। भूदान-क्रांति के द्वारा सामाजिक और आर्थिक क्रांति अभिप्रेत है। लाखों की तादाद में लोग इसमें भाग लें। श्रमजीवियों के साथ एकरूप होकर इस आंदोलन का नेतृत्व करें और इसके जरिये जनशक्ति संगठित रूप से प्रकट हो, इसी पर इस क्रांति का भविष्य आधारित है। इसमें हमारी पीढ़ी खप जायगी। इस क्रांति को पूर्ण करने का जिम्मा नयी पीढ़ी लेगी। जमाने की यह माँग पूर्ण होकर रहेगी। मेरे मन में ऐसी निष्ठा और श्रद्धा है। हजारों के अंतःकरण में आज नयी निष्ठा जाग्रत हो रही है। फिर से त्याग की ओर लोगों को ले जाने का काम, कम ही सही, पर भूदान-आन्दोलन कर रहा है। यह मन को अत्यन्त स्फूर्ति देनेवाली बात है कि नयी क्रांति का इस देश में संचार हो रहा है।

●

सर्वोदय तथा भूदान साहित्य

पुस्तक	मूल्य
गीता-प्रवचन	१)
शिक्षण-विचार	१।।)
सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र	१)
कार्यकर्ता-पाथेय	।।)
साहित्यिकों से	।।)
भूदान-गंगा (छह खंडों में) प्रत्येक	१।।)
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	१)
भगवान् के दरबार में	।)
व्यापारियों का आवाहन	।)
ग्रामदान	१)
शांति-सेना	।।)
भाषा का प्रश्न	।)
लोकनीति की ओर	१)
समग्र ग्राम-सेवा की ओर	३।।)
शासनमुक्त समाज की ओर	।।)
नयी तालीम	।।)
संपत्तिदान-यज्ञ	।।)
व्यवहार-शुद्धि	।=)
गाँव-आन्दोलन क्यों ?	२।।)
गांधी-अर्थ-विचार	१)
स्थायी समाज-व्यवस्था	२।।)
ग्राम-सुधार की एक योजना	।।।)
सर्वोदय-दर्शन	३)
क्रांति का अगला कदम	।)
अपना राज्य	।=)
अपना गाँव	।=)
सत्य की खोज	१।।)
माता-पिताओं से	।=)
बालक सीखता कैसे है ?	।।)
नक्षत्रों की छाया में	१।।)
भूदान-गंगोत्री	२।।)
भूदान-आरोहण	।।)
श्रम-दान	।)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१)
सफाई : विज्ञान और कला	।।।)
सुन्दरपुर की पाठशाला	।।।)
गो-सेवा की विचारधारा	।।)
पावन-प्रसंग	।।)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
सर्वोदय-संयोजन	१)
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	।।)
सामाजिक क्रांति और भूदान	।-)
गाँव का गोकुल	।)
ब्याज-बट्टा	।)
क्रांति की राह पर	१)
क्रांति की ओर	१)
दादा का स्नेह-दर्शन	।)
सत्याग्रही शक्ति	।-)
प्राकृतिक चिकित्सा क्यों ?	।)
बापू के पत्र	१।)
स्मरणांजलि (जमनालाल बजाज)	१।।)
कुष्ठ-सेवा	१।)
ग्रामदान क्यों ?	१)
समता की खोज में	।=)
गांधीजी क्या चाहते थे ?	।।)

अण्णासाहब 'गुप्त त
याने वे तत्त्वज्ञानी हैं, यह
मालूम है ही नहीं, बल्कि
मालूम नहीं है! अण्णासा
की एक निष्ठा है और तत्त्वज्ञान के बिना
निष्ठा नहीं बनती।

अण्णा ब्रह्मचारी हैं, पर वे अपने को कर्मचारी समझते हैं। निष्काम कर्मचर्या में उनका ब्रह्मचर्य समाया हुआ है।

अण्णासाहब को जनता के विषय में प्रेम है, देश के विषय में अभिमान है और अपने विषय में ये दोनों ही नहीं है।

—विनोबा

आठ आना